गुरुवाणी

अथवा

शतोपदेश

का

हिन्दी अनुवाद ।

पुरी गोवर्धन मठाधीन

परमहंस परिव्राजककाचार्य्य

श्रीमच्छंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामी जी

— महाराज कृत —

(बंगला)

गुरुवाणी अथवा शतोपदेश

का

हिन्दी अनुवाद

प्रथमवार १०००
संवत् १९९८
मूल्य ।।।)

प्रकाशक:—

भगवतीप्रसाद शिवहरे

ओवरसियर मुरैना (ग्वालियर)

मुद्रक:—

भूपसिंह शर्मा

सरस्वती प्रेस, बेलनगंज-आगरा।

बंगला गुरुवाणी के प्रकाशक का

निवेदन

श्री श्री गुरुदेव महाराज ने हिमालय स्थित उत्तर काशी में
अवस्थान करते समय शिष्यों के मङ्गल कामनार्थ
उन ही लोगों को उपदेश करते हुये जो समस्त
वाणी लिपिबद्ध की थी, वह ही 'श्री
श्री गुरुवाणी' के रूप में प्रका-
शित की जाती है।

॥ इति ॥

प्रकाशक—

श्री गणेशचन्द्र दत्त, एम, ए बी एल,
तनं कीर्तिमित्र लेन, श्याम बाजार,
कलकत्ता।

॥ श्री ॥

प्रकाशक के दो शब्द

पुस्तक की उपयोगिता इसके नाम से ही विदित होती है श्री १००८ गुरु महाराज की अनुकम्पा से इसके प्रकाशन का सौभाग्य सेवक को प्राप्त हुआ है अतएव मंगलमय भगवान से प्रार्थी हूं कि—

प्रभो !

बंगला गुरुवाणी–शतोपदेश का यह हिन्दी अनुवाद साधकों एवं मुमुक्षुओं को कल्याणकारी हो।

प्रकाशक—

श्रीगुरु चरणावलम्बी

भगवतीप्रसाद शिवहरे

ओवरसियर, मुरैना।

(ग्वालियर स्टेट)

शतोपदेश का सूचीपत्र।

—:※:—

विषय पृष्ठ संख्या

अनुवादक के दो शब्द ।

नारायणः शक्तिधरो हि साक्षात्,
गुरोस्तु रूपेण स छद्मवेशी ।
संसार त्राणाय सदा नियुक्तः,
सदोत्तमं तं पुरुषं प्रपद्ये ॥

श्री जगद्गुरु श्री १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमच्छ-ङ्कर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामी जी महाराज परम पाविनी गंगातटस्थ श्री विश्वनाथपुरी काशी धाम के कतिपय महान् पुरुषों में से एक प्रमुख उच्चकोटि के महात्मा हैं। आपके एक शत उपदेशों का संग्रह पुस्तकाकार में श्री गणेशचन्द्रदत्तजी M. A., B. L. की कृपा से सन् १९३२ ई० में गुरुवाणी के नाम से बङ्गला भाषा में प्रकाशित हुआ। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही विदित होता है उक्त उपदेश एक गुरु के अपने शिष्यों के प्रति उपदिष्ट उद्गार हैं, जिनका उद्देश्य साधकों के साधन काल में आने वाली कठि-नाइयों तथा शङ्काओं को निवारण करना ही प्रधानतः है। इन उपदेशों में जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान की अपरोक्षानुभूति के नित्य निर-वच्छिन्न आनन्द स्वरूप और उस प्राप्तव्य लक्ष्य पर पहुंचने के लिये भक्ति तथा योग इन पथद्वय का समन्वय और सरल उप-मावों तथा दृष्टांतों के आधार पर सुन्दर निरूपण किया गया है। उपदेशों को आद्योपांत पढ़ कर यह अच्छी तरह समझ में आ

जाता है कि जीवब्रह्मैक्य अद्वैतवाद, और भक्तों की परम प्रेम रूपा भक्ति तथा योगियों का कैवल्य पद तीनों में कोई भेद नहीं हैं, केवल एक ही तत्व के त्रिधा दृष्टिकोण हैं। वास्तव में ज्ञान, भक्ति और योग तीनों पृथक् और स्वतन्त्र मार्ग नहीं हैं, भक्ति और योग साधन हैं और ज्ञान साध्य है। भक्ति और योग भी दो नहीं हैं, जो योग है वही भक्ति है और भक्ति ही योग है। शक्ति संपन्न समर्थ गुरु के उपदिष्ट भगवन्नाम अथवा मंत्र के प्राप्त होते ही योगारंभ होजाता है और जिस शक्ति संपुटित मंत्र के स्वाध्याय से मन और प्राण का उर्ध्व प्रवाह होंने लगता है, हृदय कमल विकसित हो कर भक्ति के उफान के सहयोग द्वारा कंठस्थित विशुद्ध चक्र वेधी गद २ भाव का वेग प्राणोंको सहस्रार में उठाकर आनंद, और सब कृत्रिम नशों को फीका कर देनेवाले नशे की मस्ती भर देता है, और यह जड़ स्थूल शरीर भी प्राभावांवित हुये बिना नहीं रहता, कंप. रोमांच, हंसना, रोना नृत्य गानादि द्वारा मङ्गलमय ब्रह्मानंद की व्यक्तता को प्रकाशित करने लगता है, और अंत में मन और प्राण दोनों व्यक्ताव्यक्त के परे परब्रह्म पद में लीन हो जाते हैं, उस मंत्र, भगवन्नाम अथवा प्रणव का वह स्वाध्याय मंत्र विज्ञान का विषय है, या भक्ति का, योग का विषय है अथवा साक्षात् सगुण, निगुर्ण ब्रह्मस्वरूप ज्ञान ही स्वयं है ?

जैसा कि वेद व्यासजी ने कहा है—

स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अथवा पातंजलि भगवान ने कहा है समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् । २।४५

स्वाध्याय । दिष्ट देवता संप्रयोगः । २।४४

स्वाध्याय ही भक्ति है, भक्ति ही योग है और योग ही ज्ञान है । श्री भगवान ने भी कहा है:—

नं हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

गीता अ० ४ श्लो० ३८ ।

श्री गुरु महाराज ने अपने उपदेशों में इस बात के बार २ समझाने का यत्न किया है, कि जिससे साधकों का चित्त सब संदेहों को काट कर परम शांति लाभ कर सके । यह कहना अत्यावश्यक है कि साधकों को साधनावस्था में ऐसे संदेह रूपी अंतराय बहुधा उपस्थित हो कर उसको पथ से विचलित करते हैं, परंतु सावधान साधक इधर उधर भटक कर भी अपने लक्ष्य को नहीं भूलता । श्री गुरु महाराज ने उक्त उपदेशों को हिंदी पाठकों के लाभार्थ हिन्दी अनुवाद करने की आज्ञा करके अनुवादक पर परम अनुग्रह किया है । अनुवादक ने बंगला के भावों को हिन्दी में पूर्णतया व्यक्त करने में अथवा हिन्दी साहित्य की दृष्टि से जहां कहीं त्रुटि की हो, उसे हिन्दी साहित्य के विद्वद्गण क्षमा करेंगे ।

मि० आश्विन कृष्णा
११ संवत् १९९७
ता. २७ सितंबर १९४०

अनुवादक—
विष्णु तीर्थ ।
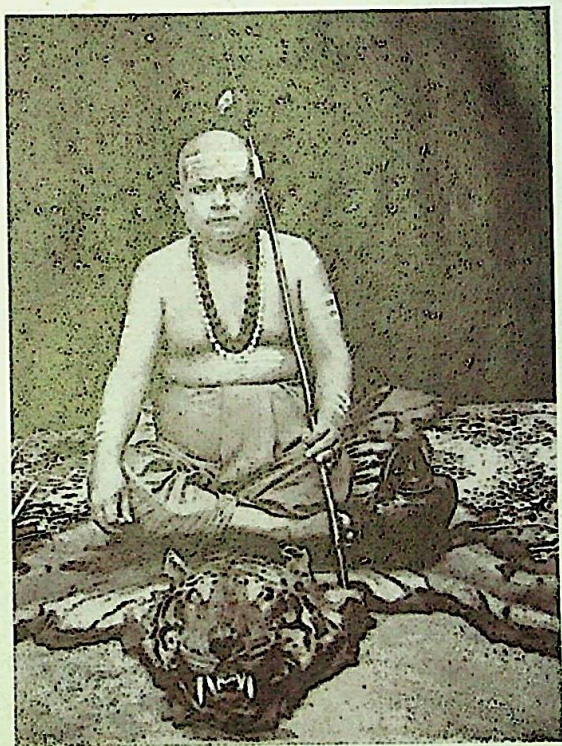
परमहंस परिव्राजकाचार्य—

श्री श्री शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ स्वामीजी महाराज।
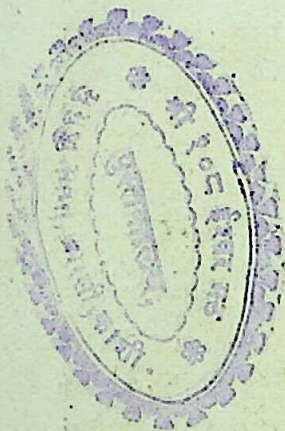
एक सेवक को दो स्वामियों की सेवा करना कठिन है। उसे एक स्वामी छोड़ना पड़ेगा और एक रखना होगा। 'राम' और 'काम' एक जगह नहीं रहते। यदि 'राम' चाहिये तो सब प्रकार की कामनाओं को मन से दूर कर दो।

२—भक्त वह है. जिसको कामिनी और काँचन में आसक्ति नहीं; केवल आशक्ति है 'राम' में।

३—राम ही जिसके प्राण हैं राम का भी वह प्राण है। गीता में भगवान ने कहा है "मुझको जो अनन्य भक्ति से भजते हैं उनकी मुझ में स्थिति रहती है और मेरी भी उनमें स्थिति रहती है।" भक्त और भगवान भिन्न नहीं।

४—जिस मनुष्य की किसी वस्तु विशेष में आसक्ति होती है, उसका मन ईश्वर का ध्यान नहीं कर सकता, चंचल रहता है। स्त्री, पुत्रादि का सुख और धन दौलत अच्छे लगते हैं इस लिये ध्यान के समय इन ही सब का चिन्तन मन में आता है।

५—स्त्री का आलिङ्गन करते रहें और उसके साथ सदा रमण करते रहें और साथ ही आत्म रति में भी रहना चाहें, यह कभी नहीं होगा। प्रकाश और अन्धकार का एक स्थान पर रहना असम्भव है। स्त्री में रति होती है, देहात्म बुद्धि द्वारा, परन्तु आत्म रति होती हैं देहात्म बुद्धि के त्याग द्वारा।

६—राजसिक और तामसिक नाम और रूपों की ओर मन आकृष्ट होता है इस लिये सात्विक कोई एक सुन्दर नाम और रूप ऐसा होना चाहिये, जिससे मन सब नाम रूपों से हट जाय और उस श्री गुरुप्रदत्त नाम रूप में जा बसे और एकाग्र होजाय इसी के लिये तो सात्विक नाम रूपों द्वारा यथा शक्ति, शिव, विष्णु, गणेश और सूर्य प्रभृति पाँच देवताओं की उपासना की जाती है। उपासना से सत्वगुण की वृद्धि होती है,सत्व की वृद्धि होने पर चित्त की एकाग्रता, ज्ञान के प्रकाश और आनन्द की प्राप्ति होती है।

७—सगुण की ही उपासना की जाती है निर्गुण की नहीं। सगुण ही साधन है, निर्गुण उसका फल है। कोई २ 'अहंग्रह' उपासना को अर्थात् निज आत्मस्वरूप की ब्रह्म भाव से उपासना करने को निर्गुण की उपासना कहते हैं परन्तु यह भी एक प्रकार की सगुणोपासना ही है क्योंकि इसमें सात्विक अहंकार रहता है। जब तक 'मैं' और 'तू' का भाव बना है तब तक वहाँ द्वैत है अर्थात् उपास्य और उपासक का भाव है। प्रधानतः उपासना दो प्रकार की है— प्रतीक उपासना और अहंग्रह उपासना प्रतीक उपासना में उपासना के लिये मंत्र या नाम और रूप का

आश्रय लेकर उपास्य के निकट उपस्थिति करनी होती है। मंत्र-जप अथवा कीर्तन भक्ति या ज्ञान, शास्त्र अध्ययन, भगवत कथा श्रवण और मनन इत्यादि के द्वारा ही सदा उसके समीप रहा जा सकता है। जो जिस का सदा चिन्तन करता है वह उसके समीप ही रहता है।

८—जो कुछ भेद है वह सब पथ (उपासना) में और मत में है. परन्तु गन्तव्य स्थान में कोई भेद नहीं है। सब नाम और रूपों में एक अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, जैसे नाम रूप विशिष्ट सब तरंगों के नीचे एक स्थिर शान्त जल राशि है, अथवा, जैसे भिन्न २ रंग की गायें होने पर भी सब का ही दूध श्वेत होता है। उसी प्रकार शक्ति, विष्णु, शिव, गणेश और सूर्य इत्यादि भिन्न २ होने पर भी सब में ही एक अद्वितीय ब्रह्म है, सब ही अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। सब वाद-विवाद पथ में है. इस लिये अपूर्ण साधक कर्म, भक्ति और ज्ञान रूपी त्रिविध पथ को लेकर आपस में लड़ते मरते हैं और झगड़ा करते रहते हैं। सच्चे योगी, भक्त, और ज्ञानियों में कोई भेद-दृष्टि नहीं रहती क्योंकि अपने २ मार्ग से प्रत्येक साधक उस ही एक गन्तव्य स्थान पर जाकर पूर्ण की प्राप्ति करता है और वहाँ सब निस्पृह धीर, स्थिर, और शान्त हो जाते हैं। क्योंकि जिसकी जो चाहने की, पाने की और अन्वेषण करने की वस्तु है वह उसको मिल गई है। क्षुधा निवृत्ति जनित तुष्टि सब को एक समान होती है, भात रोटी और फलादि कुछ भी कोई क्यों न खाये, उसकी उससे ही क्षुधा निवृत्ति हो जाती है। मनुष्य की यह क्षुधा, जो

भात रोटी की क्षुधा नहीं है, निरवच्छिन्न आनन्द प्राप्ति की क्षुधा है, निरवच्छिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप को पाकर ही निवृत्त होती है फिर उसके पश्चात् उपासना नहीं रहती। इसी लिये कहते हैं कि पथ में भेद है, गन्तव्य स्थान में भेद नहीं है।

९—कोई भी रास्ता क्यों न हो, जिसने इस आनन्द का स्वाद पा लिया है, उसको न अभिमान रहता है, न संशय, न चंचलता। वह सदा के लिये शान्त अपने आत्म भाव में स्थित हो जाता है, ऐसे साधक के लिये न साधना है, न माला अथवा अंगुलियों द्वारा जप। किसी बंगाली भावुक ने गाया है—

अन्तरे जार विराज करे गो सई।
नवीन मेघेर वरण चिकन काला॥
काज कि लो तार साधन भजन।
काज कि लो तार जपेर माला॥

अर्थ—अन्तर में जाके विराज रह्यो वह।
नवीन मेघ वरण घन श्याम॥
काज कौन ताहि साधन उ भजन तें।
काज कौन ताहि जप करि माला॥

इस लिये साधन की ऐसी उपरोक्त अन्तिम अवस्था में, साधक को पहिचानना कठिन होता है।

१०—मनुष्य इस मांस पिण्ड में स्नेह करके मन में सोचता है "अहा! मैं अमुक व्यक्ति को कितना प्रेम करता हूँ, और वे

भी मुझको कितना प्रेम करते हैं"। यह वास्तविक प्रेम नहीं है—यह है मोह। इसी लिये वह इतना दुःख दायक होता है। क्या इस मांस पिण्ड से स्नेह करके किसी ने प्रेम के राज्य में प्रवेश किया है? जहां प्रेम है वहाँ केवल निरवच्छिन्न आनन्द रहता है। प्रेम पार्थिव वस्तु नहीं, वह इन्द्रियातीत वस्तु के आश्रित है। काम पार्थिव वस्तु है, वह देह और इन्द्रियों के आश्रय रहता है। मनुष्य प्रेम के नाम पर काम का आश्रय लेकर प्रतारित होता है और दुःख पाता है। काम की अधोगति और प्रेम की ऊर्द्धगति है। कामी की देह में रति होती है और प्रेमी की आत्मा में। दो वस्तुओं का जहां मिलाप होता है वहां प्रेम समझना चाहिये यह मिलाप शरीरों का नहीं, वरन मन और प्राण का मिलना है। दो मन और प्राण जहां एक हो जाते हैं और द्वैत का बोध नहीं रहता वहां ही वास्तविक प्रेम है। ऐसी अवस्था होने पर ऐसा जान पड़ता है मानो उसकी आंख अपनी ही आंख हैं, उसके कान अपने ही कान हैं, उसका बदन अपना ही बदन है, उसके हाथ अपने ही हाथ हैं, उसके पैर अपने ही पैर हैं, और उसकी नासिका अपनी ही नासिका हैं, अर्थात् संक्षेप में वह ही अपना सब कुछ है। और हम भी उसके सर्वस्व हैं अथवा वह हम ही हैं और हम वह हैं।

११—जिसके संग प्रेम करना चाहिये, और जिसके संग प्रेम करना उचित है, उसको न जान कर प्रेम करने से ही यावतीय दुःख होते हैं। अपना जो है, उसे जान कर यदि प्रेम करोगे तब ही शान्ति मिलेगी।

१२—अपना कौन है ? क्या अपना यह शरीर है अथवा कुछ और ? यदि यह शरीर ही अपना है तो यह शरीर छूटजाने पर मनुष्य क्यों रोता है ? हाय २ क्यों करता है और उसी शरीर से क्यों घृणा करता है, जिसे अपना समझता था वह तो सामने ही पड़ा है, फिर यह विलाप किस के लिये ? अपना जो है वह तो प्राणों का भी प्राण 'महा प्राण' है, जिसके प्राण में रहने से प्राण गमनागमन करते हैं, प्राण जिसके शरीर हैं और प्राण जिसको जानते नहीं, जिसके मन में रहने से मन मनन करता है, मन जिसका शरीर है और मन जिसको जानता नहीं; जिसके बुद्धि में रहने से बुद्धि निश्चय करती है; बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धि जिसको जानती नहीं; जिसके इन्द्रियों में रहने से इन्द्रियां अपना २ कार्य करती हैं, इन्द्रियां जिसके शरीर हैं और इन्द्रियां उसको जानती नहीं, जो आकाश, वायु, तेज आप और पृथ्वी में रहता है आकाशादि जिसके शरीर हैं और आकाशादि उसको जानते नहीं, वह ही है वास्तव में अपना। जिसके आश्रय से प्रतिक्षण प्रतिश्वास यह ज्ञान होता है कि "मैं हूं", अर्थात् 'मैं" के पीछे जो अहम् बुद्धि का विषय है वह ही सच्चिदानन्द एक मात्र अपना है। वह मनुष्य के जानने की और अन्वेषण करने की वस्तु है, जिस के जान लेने पर मनुष्य को जानने और अन्वेषण करने के लिये कुछ और नहीं रहता। श्री गुरुप्रसाद से अपने आत्मा में उसकी अभिन्न भाव से उपलब्धि करके अपने आप में स्थित हो जाता है, वह मनुष्य आत्म समाधिस्थ हो जाता है और दूसरा अपना वह है जिसने

आत्मा में आत्मानन्द का स्वाद प्राप्त कराया है, अर्थात् जीव ब्रह्मैक ज्ञान का उपदेश कराने वाले श्री गुरु। जिसने अपने आत्मा को जान लिया है वह अपना ही आत्मा है, दूसरा नहीं। श्रुति कहती है 'ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है' जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ही ब्रह्म स्वरुपता की प्राप्ति कर लेता है। अपने आपको जिसने जाना वह ब्रह्म ही हो गया, इस लिये ब्रह्मविद् सब का ही आत्मा है। सब भूतों का जो आत्मा है उस को जो जान लेते हैं वे सब के ही आत्मस्वरूप हो जाते हैं

१३—वह आनन्द स्वरूप हमारे अन्दर ही है। इस लिये ही 'मैं हूं' कहने में आनन्द आता है 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कहने से किसी को आनन्द नहीं होता। हमारे अन्दर वह ज्ञान स्वरूप है इसलिये सब को ही ज्ञानाभिमान रहता है, 'मैं अज्ञानी हूँ' मैं दूसरों की अपेक्षा कम समझ हूं' ऐसा बोध किसी में नहीं दिखता और हमारे अन्दर वह नित्यस्वरूप है इसलिये दिन प्रति दिन दृश्यमान वस्तु मात्र को नाश होते हुये देख कर भी मनुष्य एक बार भी मन में नहीं सोचता कि 'मैं भी मरूंगा'। मनुष्य अपने आनन्द ज्ञान और नित्य स्वरूप स्वभाव को अविवेक के वश समझने में असमर्थ होने से आत्मा से पृथक न होने वाले आनन्द को भिन्न अनात्म विषयों द्वारा पाने के लिये अन्य वस्तु को ग्रहण करता है और आत्मा से पृथक् न होने वाले ज्ञान को भिन्न अनात्म विषयों द्वारा पाने के लिये ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करता है, आत्मा अमर होते हुए मनुष्य मृत्यु के भय से डरता है, ज्ञान स्वरूप होते हुये ज्ञान लाभ के लिये सचेष्ट है, और

आनन्द स्वरूप होते हुये आनन्द प्राप्ति के लिये अन्य वस्तुओंको पाने को उद्यत होता है, यह ही उसका अज्ञान है। वह अनादि अनिर्वचनीय सदसदात्मक अज्ञान मिथ्या होने पर भी सत्यवत प्रतिभासित होता है। जब तक वस्तुओं के स्वरूप के ज्ञान द्वारा इस मिथ्या अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक दुःखों से विराम नहीं मिलता, और न निरवच्छिन्न शान्ति मिलती है। मनुष्य को मृत्यु का भय तब ही दूर होता है, वह अमर होता है जब नित्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप आत्मा का अपने से अभिन्न होने का साक्षात् अनुभव कर लेता है। श्रुति कहती है "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति उस (सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा) को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रम किया जाता है।

१४—पंच उपासनाओं में से अर्थात्-शक्ति, विष्णु, शिव, गणेश और सूर्य इन ५ देवताओं में से कोई किसी की उपासना क्यों न करे, उसको उस देवता में ब्रह्म भाव से उपासना करनी चाहिये। ब्रह्म शब्द का अर्थ यह है कि उसकी अपेक्षा बृहत अथवा उत्कृष्ट और कोई नहीं है और वह बाधा रहित तथा निरतिशय है। जो शिव का उपासक है वह शिव की जो शक्ति का उपासक है वह शक्ति की जो विष्णु का उपासक है वह विष्णु की, जो गणेश का उपासक है वह गणपति वा गणेश की जो सूर्य का उपासक है वह सूर्य की ब्रह्म भाव से उपासना करे। शिव के उपासक को शैव, शक्ति के उपासक को शाक्त, विष्णु के उपासक को वैष्णव, गणपति के उपासक को गाणपत्य और सूर्य के उपासक को सौर्य कहते हैं।

१५—श्री भगवान कहां हैं ? वे हैं नहीं कहां ? सर्वत्र हैं। सूर्य का प्रकाश जैसे सर्वत्र समान भाव से गिरता है परन्तु स्वच्छ कांच और जल में ही उसका प्रतिबिंब दिखता है, वैसे ही श्री भगवान सर्वत्र सब नाम और रूपों में स्थित है परन्तु भगवद्भक्ति द्वारा जिनका चित्त निर्मल हो गया है उनके हृदय में श्री भगवान के प्रकाश का अधिक अनुभव होता है। इस लिये भक्त का हृदय ही उसका प्रिय मन्दिर है। हिन्दू, मुसलमान, और ईसाई कोई भी किसी भी नाम से और किसी भाव से उस को क्यों न पुकारे और उसका चिन्तन क्यों न करे, भाव-ग्राही श्री भगवान उसी २ भाव से उस अपने भक्त पर अनुग्रह करते हैं और उस की मनोवाञ्छा पूर्ण करते हैं। परन्तु चाहिये आन्तरिकता, व्याकुलता और भाव। जिसको योगी आत्मा, ज्ञानी ब्रह्म और भक्त श्री भगवान कहते हैं वह ही प्राणों का स्वामी हिन्दुओं के मन्दिर में शिव, शक्ति और विष्णु आदि के रूपों में, ईसाइयों के गिरिजाघर में ईसामसीह के रूप में और मुसलमान की मस्जिद में खुदा के नाम से पूजे जाते हैं जैसा कि श्रुति कहती है—'सर्व खल्विद ब्रह्म' 'आत्मवेद जगत् सर्वम्' एतदात्म्य मिद सर्वम्' 'ईशा वास्यमिद सर्वम्' इत्यादि। तब वह है नहीं कहां ? वह ही यह सब कुछ है अथवा सब कुछ वह ही है।

१६—हम तुमको इतना क्यों प्यार करते हैं ? इस लिये कि तुम्हारे देह मन्दिर में हमारी अहं बुद्धि का विषय जो सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान है वह ही विराज रहा है। यदि वह इस मन्दिर में

न होता तो इस हाड़ मांस के पिञ्जर को कौन प्रेम करता, इसके लालन पालन का यत्न कौन करता ? मृतक शरीर को क्या कोई प्रेम करता है, अथवा मृतक शरीर को कोई आलिंगन करता है ? पति पत्नि को, पत्नि पति को, पिता पुत्र को, पुत्र पिता को और इसी तरह एक मनुष्य दूसरे को प्यार करता है, उसकी सेवा सुश्रुषा करता है और स्नेह करता है, यह सब किसके लिये करता है ? हमारी अहं बुद्धि का विषय स्वरूप जो आत्मा है वह ही हमारे पिता के देह में, वह ही माता के देह में, पत्नि के देह में और पुत्र के देह में है, इस लिये हम उसे प्यार करते हैं, आदर सत्कार करते हैं, सेवा सुश्रुषा करते हैं और स्नेह करते हैं। प्रेम करते हैं आत्मा से, परन्तु मनुष्य अविवेक वश सोचता है कि यह ही हाड़ मांस का पिंड हमारे स्नेह की वस्तु है । यह मोह है। मोह के वश मनुष्य अनात्म देहादि में आत्म बोध करके 'मैं' और मेरा' कह कर मत्त होता है और दुःख पाता है। इसी प्रकार एक जन्म नहीं जन्म जन्मान्तर से यह ही क्रम चला आ रहा है। जब तक यह मोह भगवद्भक्ति और ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं होता, तब तक दुःख का अन्त नहीं होता।

१७—कोई भी धर्मावलम्बी क्यों न हो, बिना किसी आश्रय अथवा अवलम्बन के निराकार ईश्वर की उपासना नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य आश्रम में जब इस शरीर का वय २१ या २२ वर्ष का था, एक दिन अपने गुरु गृह से स्टीमर द्वारा किसी स्थान को जा रहा था। साथ में कुछ उपनिषद् थे, स्टीमर में जिस जगह अपना आसन बिछा कर बैठा था, वहां निकट में

एक मुसलमान मौलवी भी बैठा था। जब मैं उपनिषद् पढ़ रहा था तब उसने पूछा कि आप क्या पुस्तक पढ़ते हैं। उसके उत्तर में मैंने कहा यह 'उपनिषद्' हैं, आप लोगों की जैसे क़ुरान है, हमारे वैसे ही वेद हैं और यह वेद के अन्तर्गत ज्ञान काण्ड हैं, इसको उपनिषद् अथवा वेदान्त कहते हैं। यह सुन कर उसने कहा 'अच्छा! यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो क्या आप हमको कुछ सुना सकते हैं?" मौलवी साहब की बातें सुन कर मैंने उनको श्वेताश्वत्तर उपनिषद् में से कुछ बंगला भाषा में व्याख्या करके सुनाया। वे एकाग्रचित्त से सुन कर बोले "इसमें तो हमारी कुरान के मत की तरह एकैश्वरवाद वर्णित है"। उनके ऐसा कहने पर मैंने कहा "हां हमारा वेदान्त शास्त्र 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' कहता है, बहुत ब्रह्म या बहुत ईश्वर स्वीकार नहीं करता। हमारे उपनिषद् कहते हैं 'ब्रह्म एक है, नाना नहीं।' जो लोग वेदान्त शास्त्र और वेदान्त तत्व से अनभिज्ञ हैं वे केवल अज्ञान वश एक ब्रह्म या ईश्वर को द्विधा जानते हैं। इसके उत्तर में उसने कहा आप लोगों में सबही बातें अच्छी हैं केवल मिट्टी, पत्थर और काठ इत्यादि द्वारा मूर्ति तय्यार करके पूजा करना अच्छा नहीं है। मैंने प्रत्युत्तर में कहा 'आप लोगों में एकैश्वर-वाद तो अच्छा है परन्तु आप लोगों का मस्जिद में नमाज पढ़ते समय चबूतरे के सामने पश्चिमाभिमुख होकर नमाज पढ़ना ही बड़ी खराब बात है।' ऐसा कहने पर वह कहने लगे 'देखिये, इस चबूतरे रूप आसन पर हम लोगों के खुदा उपस्थित होकर हमारी नमाज़ सुनते हैं, ऐसा ख्याल करके हम लोग नमाज़

पढ़ते हैं।' इसके उत्तर में मैं हंस कर मौलवी साहेब से कहने लगा 'आप लोग जैसे चबूतरे पर खुदा की उपस्थिति की भावना करते हैं, हम लोग भी मिट्टी, पत्थर और काठ इत्यादि द्वारा मूर्ति बना कर उस सुन्दर मूर्ति में निरवच्छिन्न बाधारहित और निरतिशय महान् ब्रह्म को साक्षात् आविर्भूत मान कर, पूजा और प्रार्थनादि करते हैं। यह मूर्ति भी हमारे नाम और रूप रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म का आसन या स्थिति स्थान है। जो लोग हिन्दू धर्म के गूढ़ रहस्य को नहीं जानते वे ही मूर्ख लोग हिन्दुओं को मूर्तिपूजक कहकर घृणा करते हैं। हिन्दू कभी जड़ के उपासक नहीं हैं, वे सब चैतन्य के उपासक हैं।

१८—संसार बाहिर नहीं है, संसार है मन में। माता, पिता स्त्री, पुत्र और घर इत्यादि का परित्याग करके बहुत लोग सोचते हैं कि हमने संसार छोड़ दिया है, और अव्याहृति पाली है। उनको मूर्खतावश एक बार भी यह नहीं सूझता कि श्रुति कहती है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह दृश्यमान जगत् सकल ब्रह्म ही है, तब ब्रह्म के अतिरिक्त माता, पिता और स्त्री, पुत्रादि का पृथक् अस्तित्व कहां रहा? वे माता पिता प्रभृति के स्वरूप को नहीं जानते इस लिये उनके निकट रहने से भय मानते हैं और दुःख पाते हैं। बंधन के कारण तो वे लोग नहीं हैं बंधन का कारण है मोहयुक्त मन। जिसको मोह नहीं, वासना नहीं वह ही वास्तविक एक मात्र संसार त्यागी है। जैसे सपेरा विषधर सर्प के विषदन्त तोड़ कर उसके साथ खेल करता है, उसी तरह विषय रूपी विषधर काले सर्प का मोहरूपी जो विषदन्त है

उसको श्रीमद्भगवद्भक्ति और ज्ञान द्वारा नष्ट करके यदि मनुष्य विषय भोग करे तो वह विषय या संसार में रहते हुये भी संसार में नहीं रहता। उसके लिये संसार नहीं है।

१६—तुम्हारे माता पिता और स्त्री पुत्रादि के सदृश कितने माता पिता और स्त्री पुत्रादि मरते हैं उनके लिये क्यों नहीं रोते, क्यों नहीं शोक करते? जिस स्थान पर मोह अर्थात् मैं और मेरेपन का बोध होता है उसी स्थान पर दुःख होता है। जिस स्थान पर मैं और मेरेपन का बोध नहीं होता उस स्थान पर दुःख भी नहीं होता। अपने माता पिता और स्त्री पुत्रादि की तरह दूसरों के माता पिता और स्त्री पुत्रादि में यदि 'अपनेपन' का बोध हो, तो उनके वियोग से होने वाली मृत्युजनित व्यथा भी उतनी ही अत्यन्त दुःखदायक होगी। इस लिये जानना चाहिये कि प्रत्येक दृश्यमान वस्तु में हमारा जो अपनेपन का बोध है, वह ही दुःख का कारण है। यदि इस मोह का प्रवाह फेर दिया जाय अर्थात् अन्तर्मुखी कर दिया जाय तब यह ही मोह अन्तरस्थ प्राणों के प्रभु को मेरा कहने लगेगा और इन अनित्य बन्धु-बान्धवादि के प्रति जो 'मेरा पन' है वह दूर हो जायगा। मैं उसका हूं, 'वह मेरा हैं' इस प्रकार की दृढ़धारना उदय होने पर दूसरी भावना क्या रह सकती है? जो हमारा नहीं है और हम जिसके नहीं हैं उसको मेरा २ कहकर जो मोह इतने काल से दुःख देता आ रहा था और मुक्ति के रास्ते को कण्टकाकीर्ण कर रहा था वह ही मोह तब प्राणों के प्रभु श्री भगवान को अपना समझ कर दुःख को दूर कर देगा और मुक्ति के

मार्ग को झाड़ बुहार कर स्वच्छ कर देगा। मनुष्य इस मोह के कारण पुत्र कन्या और परिवार के वियोग से जितना रो २ कर व्याकुल होता है उतनी ही फिर उस ही मोह से 'अपने प्राणों के प्रभु श्री भगवान को मैं नहीं देख पाता हूं अभी तक वे दर्शन नहीं देते हैं' इत्यादि कह २ कर भगवत् विरह के दुःख से रोवेगा और अनुराग की ज्वाला में छटपटायगा। अनित्य बन्धुबान्धुवों के लिये रो २ कर मनुष्य अंधकार से अधिक अंधकार में डूबता है और जन्म जन्मान्तर धारण करके बार २ दुःख के बीज की वृद्धि करता रहता है किन्तु श्री भगवान के लिये अपने प्राणों के प्रभु के लिये रो २ कर प्रकाश से अधिक प्रकाश में प्रवेश करता है और क्रमशः भाव भक्ति प्राप्त करके अन्त में मोक्ष स्वरूप निरवच्छिन्न परमानन्द की प्राप्ति करता है।

२०—पाप पुण्य और बुरा भला कार्य करके बहुत लोग कहा करते हैं कि ईश्वर ही सब कुछ कराते हैं, इसलिये हमने ऐसा किया है। परन्तु यह सब उनकी भूल है ईश्वर किसी को भी पाप पुण्यादि करने को नहीं कहते। मनुष्य अज्ञान वश अपनी २ मनोवृत्ति द्वारा पाप और पुण्य उपार्जन करता है। जिस तरह एक ही प्रकाश के सामने बैठकर कोई धर्म ग्रन्थों का पाठ करता है, कोई जप ध्यानादि करता है और कोई कुकर्मादि करता है. वहां क्या प्रकाश का दोष या गुण है अथवा कर्म करने वाले का? ईश्वर तो प्रकाश के सदृश दृष्टास्वरूप साक्षी है, और देखिये, जिस तरह दिन के प्रकाश

में कोई योग यज्ञादि पुण्य कर्म, कोई गुरु के समीप वेदादि का अध्ययन करता है और कोई तो जूआ, चोरी, बदमाशी करता है, वहां जैसे सूर्य दोष अथवा गुण का भागी नहीं है। होता तो वरन् निर्लिप्त रहता है, वैसे ही ईश्वर किसी के किये हुये पाप पुण्यादि का भागी नहीं है निर्लिप्त रहता है। ईश्वर तथा आत्मा तो दृष्टा स्वरूप है। दृष्टा को फिर पाप पुण्य कहां? साक्षी अर्थात् दृष्टा स्वयं कुछ नहीं करता और दूसरों को कुछ करने के लिये कहता भी नहीं।

२१—तुम्हारे भीतर छिपकर मधुर स्वर से कौन कह रहा है "सोऽहम" अर्थात् वह मैं हूं या मैं ही वह हूँ? जो निरवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, वह ही इस 'सोऽहम' वाक्य के अर्थ का लक्ष्य है। वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही इस जगत् की सृष्टि करके जीव के रूप में नाम और रूप की उपाधि के बीच छिपा हुआ है। शरीर का अभिमान ही जीवत्व है। शरीरादि रूपों की उपाधियों, द्वारा घटाकाश और महाकाश वत् जीवात्मा और परमात्मा में व्यवधान अथवा भेद है। इस भेद के कारण ही जीव प्रति उच्छ्वास निश्वास में 'सोहं' मन्त्र द्वारा स्वयं ही अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुसंधान करते २ कहता रहता है कि वह मैं हूं अथवा मैं वह हूं। जब तक यह व्यवधान है तब तक ही इस तरह शुद्ध स्वरूप का अनुसंधान है। स्वरूप में स्थिति हो जाने पर फिर 'सोऽहम्' नहीं रहता, तब केवल ॐ अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है।

२२—वह जो भाव का विषय है, उसको भाव पूर्ण होकर

पुकारना चाहिये। भाव के बिना शून्य हृदय से उसको क्या किसी ने पाया है? वह वाणी और मन के अगोचर है और भाव एवं प्रेम द्वारा साधकों के निकट प्रत्यक्षी-भूत होता है। जैसे दूध में अप्रत्यक्ष रूप से मक्खन रहता है, दूध को मथने से मक्खन ऊपर उठ आता है, वैसे ही वह सारे नाम रूपों में व्याप्त है और उसमें ही सारे नामरूप जगत की स्थिति है। वह ही नाम रूप विहीन सच्चिदानन्द, भाव और प्रेम रूपी ध्यान मथनी द्वारा मथे जाने पर भक्त साधक के निकट देह-धारी के सदृश प्रत्यक्षीभूत होता है। वह ही परात्पर और प्रकृति से अतीत परब्रह्म भक्तजनों की भक्ति भाव और प्रेम के आकर्षण से आकर्षित होकर, नामरूप रहित होने पर भी भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया का अवलंबन लेकर देहधारण कर श्रीकृष्ण रूप से मथुरा में अवतीर्ण हुआ था। वह भाव और प्रेम रूपी ध्यान मथन के अभ्यास द्वारा प्रकट हुआ था इसी लिये कहते हैं कि जिस स्थान पर वह आविर्भूत होता है, उसी स्थान का नाम मथुरा है।

२३—भाव ५ प्रकार के होते हैं, जिसको जिस भाव की इच्छा हो उसी भाव से श्री भगवान को अपनाये, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ कर बुलावे। तब ही वे हृदय में दिख पड़ते हैं। शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर ये पांच भाव हैं। जैसे पांचों भूतों में प्रथम तत्व आकाश है और वह तत्व अन्य सब भूतों में है, वैसे ही पांचों भावों में पहिला भाव शान्त

भाव अर्थात् एकाग्रता है और वह शांत भाव अन्य सब भावों में भी रहता है।

(क) शान्त भाव योगियों और ऋषियों में होता है। उनमें यह भाव ऐसी एकतानता से रहता है जैसे समुद्र में नदी के मिलने के स्थान पर एक शान्त ज्वार भाटा रहित अवस्था का भाव रहता है।

(ख) दास्य भाव–अर्थात् वीर हनुमान का भाव। श्री भगवान हमारे प्रभु हैं और हम उनके दास हैं. इस भाव से उपासना करना दास्य भाव का लक्षण है। दास्य भाव में प्रभु के प्रति दास की एकाग्रता रहती है और सेवा का भाव भी होता है। दास प्रभु की आज्ञा पालन करके और सेवा करके आनन्दित होता है। और अपने को चरितार्थ मानता है। प्रभु के प्रति दास या सेवक का मन सदा ही लगा रहता है, क्योंकि 'कब प्रभु का कोई आदेश हो और हम उनकी कोई सेवा करें' ऐसी भावना दास या सेवक के मन में सदा जागृत रहती है। इसलिये दास्य भाव में शान्त भाव की एकाग्रता भी दिख पड़ती है।

(ग) सख्य भाव—श्रीदामा, सुदामा और मधु मंगल प्रभृति व्रज के बालकों का भाव। सख्य भाव में सम प्राणता अर्थात् अपने प्राणवत् प्रिय होने का भाव है। सख्य भाव में शांत भाव की एकाग्रता और दास्य भाव की सेवा परायणता भी रहती है। श्री भगवान हमारे सखा हैं, इस भाव से सम्बन्ध जोड़ कर जो उपसना होती है उसी को सख्य भाव की साधना कहते हैं।

सखा सखा का एक मन और एक प्राण होता है, एक को त्याग कर दूसरा नहीं रह सकता। अपने मन की बात सखा को अथवा बन्धु को कहे बिना उसे चैन नहीं पड़ता, और अपने मन की बात कह देने पर उसे शान्ति मिलती है। सखा को कब देखेंगे, किस क्षण उसके संग मिल कर उससे अपने हृदय की बात और मन की व्यथा निवेदन करेंगे और उसके साथ खेल कूद कर आनन्द मनायेंगे,' सदा प्रत्येक क्षण यही चिन्ता रहती है। ऐसी अवस्था का होना सखा के प्रति सखा की एकाग्रता का लक्षण है। सखा केवल अपने सखा के साथ खेल कूद कर और हृदय की बात तथा मन की व्यथा कह कर ही तृप्त नहीं होता, वरन् सखा की सेवा करना, सखा को भोजन कराना, इत्यादि कार्य उसको प्राण सम प्रिय लगते हैं। कोई अच्छा पदार्थ स्वयं खाता है तो उसे सखा को न खिलाये पर्यन्त तृप्ति नहीं होती। सखाओं के बीच छोटा बड़ापन या जाति भेद इत्यादि का भाव कुछ नहीं रहता। एक दिन श्रीकृष्ण भगवान् श्रीदामा प्रभृति व्रज बालकों के संग गाय चराने गये थे। श्रीदामा को एक बहुत मीठा फल मिला, स्वयं थोड़ा चखा तो प्राण प्यारे श्रीकृष्ण की स्मृति हो आई, वह झूंठा फल हाथ में लिये श्री भगवान के समीप जाकर उनको भेंट किया, और श्री भगवान ने भी आनन्द सहित भक्त के दिये हुये उस झूंठे फल को परम पवित्र समझ कर ग्रहण कर लिया। धन्य सखा भाव। छोटे बड़े और जाति भेद का विचार होता तो क्या झूंठा फल देना और ग्रहण करना संभव था? यह ही एक प्राण अथवा सम-

प्राण होने का लक्षण है। दास्य भाव में प्रभु के प्रति दास को भय रहता है किन्तु सख्य भाव में किंचित् भी भय को स्थान नहीं होता है।

(घ) वात्सल्य भाव—श्रीमती यशोधा का भाव है। श्री भगवान की पुत्र भाव से उपासना करना वात्सल्य भाव कहलाता है। पुत्र में माता पिता का मन सदा ही लगा रहता है। पुत्र मानो माता पिता का प्राण या आत्मा होता है, इसीलिये पुत्र को कुछ हो जाने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो अपने ही शरीर में कुछ हो गया है। माता पिता स्वयं न खाकर सन्तान को खिला कर तृप्त होते हैं और ऐसा मानते हैं मानों स्वयं ही खाया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि माता पिता अपनी सन्तान में अभिन्नता का बोध करते हैं। वास्तव में ऐसा ही है इस लिये शास्त्र में भी कहा है 'आत्मना जायते पुत्रः'। इस लिये वात्सल्य भाव में शान्त भाव की एकाग्रता, दास्य भाव की सेवा परायणता और सखा भाव की समप्राणता वर्तमान रहती है। श्री भगवान को पितृ अथवा मातृ भाव से उपासना करना भी वात्सल्य भाव के ही अन्तर्गत है। पाश्चात्य जगत् में महात्मा ईसा ने श्री भगवान की पितृ भाव से उपासना करके सिद्धि लाभ की थी। बङ्गाल प्रान्त के श्री राम प्रसाद, कमलाकान्त, राजा रामकृष्ण और रामकृष्ण परम हंस प्रभृति महात्माओं ने श्री भगवान की मातृ भाव से उपासना करके इस युग में सिद्धि प्राप्त की है। स्वर्गीय राजा राम मोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मोसमाज में श्री भगवान की पितृ भाव से

उपासना करने की प्रथा देखी जाती है।

(ङ) मधुर भाव—श्रीमती राधिका और व्रज गोपिकाओं का भाव। पति भाव से श्री भगवान की उपासना करने को ही मधुर भाव कहते हैं। मधुर भाव का स्वभाव ही आत्म त्याग, आत्म निर्भरता और सर्वस्व समर्पणता है। इसी लिये मधुर भाव सब भावों में श्रेष्ट हैं। मधुर भाव में सब भाव ही रहते हैं। जैसे पांचों भूतों से पृथ्वी तत्व में अपनी गंधतन्मात्रा के अतिरिक्त आकाशादि की शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तन्मात्रायें भी विद्यमान हैं, वैसे ही मधुर भाव में शान्त भाव की एकाग्रता, दास्य भाव की सेवा परायणता, सख्य भाव की सम प्राणता और वात्सल्य भाव की अभिन्नता विद्यमान रहती है। श्रीमती राधिका और उनकी आठ सखियों ने श्री कृष्ण को पति भाव से पाने के लिये यमुना तट पर व्रत धारण करके एक महीने तक श्री कात्यायनी पूजा की थी और श्री कात्यायनी देवी के प्रसाद से जगतपति श्री कृष्ण ने उनकी भक्ति के तीव्र आकर्षण से आकर्षित होकर दर्शन दिये और उनसे मिले। वास्तव में गोपियों ने श्रीकृष्ण को सर्वस्व अर्पण कर दिया था। आत्म त्याग और आत्म निर्भरता कर चुकीं थीं या नहीं इस बात की परीक्षा करने के लिये भगवान् ने छल से जल क्रीड़ा में आसक्त गोपियों के वस्त्र अपहरण किये थे। स्त्रियों का प्रधान धन लज्जा है, वह धन एक मात्र पति के सिवाय अन्य के सामने नहीं त्यागा जा सकता। इस लिये श्री कृष्ण ने उनकी परीक्षा की। गोपियों की किस तरह परीक्षा की थी इसका वृत्तान्त श्री मद्भागवत के पढ़ने से ज्ञात होगा। यहाँ पर अधिक

वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। धन्य गोपियों की भक्ति ! एक मात्र श्री कृष्ण की कृपा के कारण उनके आकर्षण से गोपियों ने लज्जा त्याग दी और जन्मजन्मान्तर के लिये उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना बना लिया। श्री भगवान को जो जिस भाव से प्रेम करता है वे उसको उसी भाव से ग्रहण करते हैं, इसी लिये भगवान भक्त वत्सल कहलाते हैं। साधक जब तक उनको अपना सर्वस्व अर्पण नहीं कर देता, किसी सामान्य वस्तु में भी जब तक 'यह मेरी है' ऐसी उसकी भावना बनी रहती है तब तक वे दर्शन नहीं देते। गोपियाँ जानती थीं कि देह में वास करने वाला देही वा आत्मा कृष्ण ही है, सब कुछ उसी का है, इस लिये गोपियों को अपनी इन्द्रियों में आसक्ति नहीं थी, उनको केवल कृष्ण के प्रसन्न रखने की इच्छा थी। श्रीकृष्ण जिस काम से सुखी हों, श्रीकृष्ण जिस प्रकार सुखी हों वह ही कार्य करने में उनकी प्रीति रहती थी क्योंकि श्रीकृष्ण ही उनके प्राण प्राणनाथ और प्राणों के भी प्राण थे। वे सब की आत्मा हैं, इस लिये उनको गोपियाँ चाहती थीं, सब की अपेक्षा उनको अधिक स्नेह और प्रेम करती थीं और आत्मा से भी अधिक अपना समझती थीं; जैसे मनुष्य अपनी आत्मा को प्रेम करता है वैसे दूसरों को प्रेम नहीं कर सकता और न कर सकेगा। श्री कृष्ण सब के आत्मा और सर्व समष्टि आनन्द स्वरूप हैं, इस लिये गोपियों का मन सदा श्रीकृष्ण में लगा रहता था, श्रीकृष्ण के सिवाय उनके मन में अन्य किसी का चिन्तन नहीं रहता था। कब श्री कृष्ण से मिलना होगा, कब उनकी सेवा करेंगी, कब

उनसे मिल कर उनसे अपने मन की कहानी कहेंगी और हास्य कौतुकादि द्वारा उनके आनन्द की वृद्धि करेंगी, गोपियों के मन में संसार के सब ही कार्य करते रहते भी ऐसे भाव सदा बने रहते थे, वे, संसार के जो कर्तव्य कर्म हैं, जैसे पति सेवा, सास श्वसुर, ननद देवर प्रभृति परिवार के सब आदमियों की सेवा सुश्रुषा और आदर सत्कार आदि उनमें त्रुटि नहीं करती थीं और साथ ही सुयोग पाते ही नाना प्रकार से क्रीड़ा कौतुहलादि द्वारा परमानन्द का भी लाभ लेती थीं।

जैसे श्री भगवान ने बहिर्जगत् ब्रज धाम में गोपियों के साथ लीला की है वैसे ही हे साधक ! सदा वह तुम्हारे इस देह स्वरूप ब्रज धाम में गोपियों के साथ लीला करते हैं। श्री गुरु कृपा से जिसके भक्ति और वैराग्य द्वारा दिव्य चक्षु खुल जाते हैं, वे एक मात्र उसके भाव में स्थित हो कर उनका अनुभव करते हैं, उनको प्रत्यक्ष देखते हैं। श्री भगवान की द्विविधा प्रकृति है परा और अपरा। क्षिति, जल,तेज,वायु,आकाश, मन बुद्धि और अहंकार ये ८ अपरा प्रकृति और चैतन्य जीव परा प्रकृति कहलाती हैं। जीव चैतन्य का 'राधा' नाम से वर्णन किया गया है और उपरोक्त अष्टधा अपरा प्रकृति उसकी ८ सखियां हैं। राध् धातु से राधा शब्द की व्युत्पत्ति है। मनुष्य आराधना करता है इसलिये उसे राधा कहते हैं, महाकाश में घट और मठ इत्यादि उपाधि द्वारा जैसे घटाकाश और मठाकाश दिख पड़ते हैं और घटाकाश मठाकाश महाकाश के आधीन हैं इसी प्रकार भिन्न २ नाम और रूपों की उपाधि द्वारा एक अखण्ड चैतन्य में विभिन्न जीवों की

प्रतीति होती है और घटाकाश वत् जीव चैतन्य भी महाचैतन्य अर्थात् अखण्ड चैतन्य के आधीन है। जो जिसके आधीन होता है, उसका वह ही स्वामी है, इस लिये जीव रूपी राधा या गोपियों का एक मात्र पति परमात्मा परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप श्री कृष्ण ही हैं। सब जीव उसके आधीन हैं, उसकी सत्ता के अतिरिक्त जीव की अन्य पृथक् सत्ता नहीं है । उसकी सत्ता के कारण ही उसका आश्रय होने से 'हम हैं' कह कर मनुष्य गर्व करता है और आनन्दित होता है। जीव ही गोपी है, गो + पा धातु (रक्षणे) को स्त्रीलिङ्ग में ङप् प्रत्यय लगाने से गोपी शब्द बनता है। गो अर्थात् इन्द्रियों की रक्षा जो करता है वह ही गोप या गोपी रूपी जीवात्मा है । जीवात्मा इस देह में स्थित है इसीसे इन्द्रियां उसकी शक्ति से शक्तिशाली हो कर अपना २ कार्य करती हैं अन्यथा इन्द्रियों में स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। जैसे गोपियों ने श्रीकृष्ण को पति भाव से पाने के लिये कात्यायिनी पूजा की थी, वैसे ही साधकों को भी जगतपति परमात्मा रूपी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये मूलाधार स्थित श्री कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके उसकी कृपा प्राप्ति के लिये श्री गुरुपदेश अनुसार ध्यान और पूजा करनी होती है । श्री कुण्डलिनी देवी जब प्रसन्न होकर सुषुम्ना द्वार खोल देती हैं, तब ही साधक अपने देह में सहस्रार स्थित जगतपति श्रीकृष्ण के दर्शन करने लगता है और उसके साथ मिलता है अर्थात् एकता प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करता है, इसके पश्चात् मनुष्य को शोक, मोहादि नहीं रहते। कामान्ध मनुष्य गोपियों

के वस्त्रहरण के गूढ़रहस्य को न समझ कर श्री भगवान में दोषारोप करते हैं। गोपियों का वस्त्रहरण क्या है ? जलक्रीड़ा में आसक्ति अर्थात् जायते इतिजं लीयते इतिलं, जो जन्म लेता है और मरता है वह ही देहरूपी जल है इस देहरूपी जल में मोहवश अहमत्व का आश्रय करके जो जीव सुख, दुःख आदि भोग भोगता है, गोपियों के उस ही मोहरूपी वस्त्र को श्री गुरु रूपी श्रीकृष्ण अपहरण कर लेते हैं या चोर लेते हैं। वस् धातु आच्छादने, जिसके द्वारा आच्छादन किया जाय वह ही वस्त्र है। मोह होने से घृणा, लज्जा, भय इत्यादि होते हैं, मोह ने मनुष्य की बुद्धि आच्छादित कर रखी है, इस लिये लज्जा इत्यादि के पाश में मनुष्य बंधा हुआ है। जब तक मोह है तब तक भगवान से मिलना नहीं होता, दोनों का एक मन और एक प्राण नहीं होता। इस लिये श्रीकृष्ण अपने कृपा कटाक्ष से गोपियों का मोह नष्ट करके उनको अपना बना लेते हैं। मोह नष्ट होने से ही वास्तविक सन्यास होता है, तब मनुष्य सम्पूर्णतया ईश्वर में आत्मन्यस्त हो जाता है, सर्वस्व उसे अर्पण कर देता है, अपना कहने को उसके पास और कुछ नहीं रहता, तब अपना सब कुछ उसी का होजाता है। गोपियों के वस्त्रहरण की कथा याद आने से हमको सन्यास की बात याद आती है, सन्यास आश्रम ग्रहण करने के समय, आत्मश्राद्ध और विरजा होम इत्यादि समापन्न करने के पीछे यमुना, गंगा या किसी पवित्र जलाशय में उतर कर स्वजातीय चिह्नादि का त्याग करना होता है और अवशेष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके

वस्त्र और कोपीन पर्यन्त त्याग कर मनुष्य नग्न हो जाता है। उसके पीछे करुणानिधि श्रीगुरु बुला कर फिर वस्त्र और कोपीन आदि देते हैं। और फिर जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादक महावाक्यों का उपदेश करते हैं। इससे विचार आता है कि श्री भगवान ने गोपियों को भी अभेदमूलक तत्व ज्ञानोपदेश द्वारा सन्यासिनी बनाया था। वास्तविकतः गोपियां अन्तर में सन्यासिनी और बाहिर में गृहिणियों के सदृश थीं परमात्मा श्रीकृष्ण के सिवाय उनको और किसी वस्तु में आसक्ति नहीं थी।

२४—सर्वदा श्वास प्रतिश्वास में गुरुपदेश में मिले मंत्र का जप करते रहना चाहिये, उसकी कृपा से जब सुषुम्ना के द्वार के अर्गल का भेदन होगया और शक्ति जाग चुकी फिर चिन्ता किस बात की? ध्यान अथवा मंत्र द्वारा ही प्राणायाम, प्रत्याहार, और धारणा इत्यादि अपने आप जो कुछ होना है होगा। साधक को चाहिये कि केवल भक्ति और श्रद्धा के साथ नियमित रूप से अभ्यास और उसके साथ २ नित्यानित्य वस्तु का विचार करता रहे। जब मन अभ्यास से विचलित होकर अन्य विषयों की ओर जाय तब ही विचार करना चाहिये कि एक मात्र आत्मा या ईश्वर ही नित्य वस्तु है, इससे भिन्न जितने पदार्थ हैं सब मिथ्या हैं। भूत, भविष्यत और वर्तमान अथवा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों कालों में जो एक रूप रहता है, जिसको जन्म मृत्यु नहीं होते, वह ही नित्य और सत्य है। यह बात विशेष रूप से मन में धारण कर लेनी चाहिये, कि जिसकी उत्पत्ति या जन्म होता है वह ही अनित्य है। अनित्य वस्तु से यथार्थ नित्य

शान्ति या सुख नहीं मिलता। नित्य शान्तिमय अथवा सुख स्वरूप एक मात्र आत्मा या ईश्वर ही है। इस प्रकार विचार द्वारा मन को अनित्य वस्तुओं के ध्यान से खेंच कर नित्य आत्मा या ईश्वर के ध्यानाभ्यास में लगाते रहना चाहिये।

२५—एक बार अच्छी तरह अनुसंधान करके देखो कि जप कौन करता है, क्या यह शरीर जप करता है? नहीं! यह शरीर तो बैठा हुआ है। तो क्या जिह्वा जप करती है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि जिह्वा की क्या शक्ति जो अपने आप हिल सके? उसको कोई और ही हिलाता है, इसी लिये वह हिलती है। वास्तव में यह शरीर, जिह्वा, प्राण कोई भी जप या ध्यान नहीं करते. जप या ध्यान तो मन करता है। अच्छा! जब यह मन जप या ध्यान करता है तब उसको भी द्रष्टा स्वरूप होकर कौन देखता है? क्या कभी उसको एक बार खोज कर देखा है? आश्चर्य, अति आश्चर्य। आत्मा ही स्वयं द्रष्टा स्वरूप साक्षी होकर तुम्हारे मन के जप या ध्यान को देखता है, परन्तु तुम द्रष्टा स्वरूप होते हुये भी द्रष्टा को नहीं जानते। जो द्रष्टा स्वरूप साक्षी है वह ही तुम्हारे जप और ध्यान का विषय है। तुम अपना ही जप करते हो, तुम अपने आपको ही पुकारते हो और तुम स्वयं अपना ही ध्यान करते हो अर्थात् तुम्हारा मन ही जो अहं बुद्धि का विषय है, जिसका आश्रय लेकर या जिसको अपना विषय बना कर 'मैं हूं' ऐसी बुद्धि का उदय होता है, वह ही तुम्हारा मन उपहित चेतन स्वरूप आत्मा को पुकारता है और उसका ध्यान करता है। अपने में द्रष्टा स्वरूप होकर

यदि मनुष्य सदा जप और ध्यानादि को देखता रहे तो सदा ही अपने स्वरूप में अवस्थित हो जायगा और परम शान्ति लाभ करेगा।

२६—ध्यान करते २ तन्मय हो जावो। अहंत्व के लोप होने को तन्मयता कहते हैं, वह स्वरूप में लीनता की स्थिति है। अहंत्व ही गहरे में गोता नहीं लगाने देता, ऊपर होश में रखता है जो मनुष्य मिथ्या अहं बुद्धि द्वारा अखण्ड चैतन्य में खण्ड चैतन्य का अनुभव करता है, वह ही अहं बुद्धि के त्याग द्वारा खण्ड चैतन्य को (घटाकाश को महाकाश में लीन करने के न्यायवत) अखण्ड चैतन्य में लीन करके निःसंकल्प भाव में ठहरने की चेष्टा करता है। इस तरह अभ्यास करते २ नीचे तह तक डूब जावो और निज स्वरूप में लीन हो जावो।

२७—यदि इस प्रकार ध्यान करते २ तन्मय नहीं हो सकते तो अपने हृदय कमल में अपने उस अभीष्ट बंधु, प्राणों के नाथ, प्राणवल्लभ का ध्यान करो, जो नाम रूपहीन होने पर भी युग २ में भक्तों की मनोभिलाषा पूर्ण करने के लिये देह धारण कर मूर्तिमान अवतीर्ण होते हैं। कमल में आसक्त भ्रमर के सदृश मन रूपी भृङ्ग को उनके चरण कमलों में जमाये रखो और सब कामनाओं का त्याग करके निश्चिन्त बैठ जावो।

२८—तुम संसारी हो, तुम्हारे पास योग और भोग दोनों ही तो हैं। भोग करो विचार सहित अर्थात् भोग भी करो और साथ २ विचार भी करते जावो कि भोग्य वस्तु में कोई नित्य शान्ति देने वाली वस्तु है या नहीं। विचार पूर्वक भोग द्वारा ही

भोग निवृत्ति हो जायगी। बिना विचार के जो भोग किया जाता है, उसको उपभोग कहते हैं। अग्नि में घी की आहुति देने से जैसे अग्नि नहीं बुझती वरन् अधिक प्रज्वलित होती है वैसे ही उपभोग द्वारा कामीजनों की कामवासना शान्त न होकर अधिक भोग काङ्क्षा की वृद्धि होती है। एक मात्र नित्यानित्य वस्तु के विचार द्वारा यदि वस्तु का जैसा प्राकृतिक स्वभाव गुण है वैसा जान लिया जाय और अमुक वस्तु से अमुक अनिष्ट होने की सम्भावना है इसका ज्ञान हो जाय, तब ही भोग्य वस्तु पाने की इच्छा के हृदय में उदय होने की सम्भावना नहीं रहती। जिस स्थान पर विवेक बुद्धि या विचार का अभाव है, उस स्थान पर ही काम, क्रोध, लोभ और मोह प्रभृति रिपु अपने अपने प्रभाव का विस्तार करके अत्यंत दुःख देते हैं। बंगाल के भक्त रामप्रसाद ने गाया है:—

कामादि छय कुम्भीर आछे आहार लोभे सदाई चले।
तुमि विवेक हल्दी गाये मेखे जाउ छोंवे नासार गंध पेले॥

अर्थ—कामादि छः ग्राह हैं,जो आहार के लोभतें, सदा ही फिरें।
तुम विवेकी हल्दी लगाय जावो,छूवेंना ताको गंध पायके॥

अभ्यास और वैराग्य द्वारा दुर्दान्त मन को वश किया जाता है और इनके द्वारा ही चित्त की वृत्तियों का भी निरोध होता है। इसलिये कहते हैं कि जब तक मन से संसार के भाव दूर नहीं होते तब तक गुरुपदेशानुसार भगवान का नाम स्मरण और ध्यान तथा नित्यानित्य वस्तु का विचार करते रहना चाहिए।

२६—एक विचार करके देखो कि तुम कौन हो और तुम्हारा यहाँ कौन है ? यह हाड़ मांस का पिंजर क्या तुम हो ? नहीं ! ये इन्द्रियां, मन, प्राण और बुद्धि आदि क्या तुम हो ? देह, इन्द्रियां, प्राण मन और बुद्धि आदि में तुम कोई भी नहीं। दृष्यमान घट को देखने वाला द्रष्टा जैसे पृथक् है, वैसे ही 'हमारी देह', 'हमारी आंखें' और 'हमारे कान' इत्यादि, 'हमारे प्राण', 'हमारा मन', और 'हमारी बुद्धि' इस प्रकार षष्टि व्यपदेश अर्थात् संबंध कारक के व्यपदेश द्वारा घट के द्रष्टा वत् तुम सदा ही इस दृश्यमान देह और इंद्रियादि के द्रष्टा स्वरूप चैतन्य पृथक हो। तुम यदि देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि इत्यादि होते तो 'हमारा' यह शब्द व्यवहार करके कभी उनके साथ अपना संबंध जोड़ने की आवश्यकता न पड़ती। हमारा देह, हमारी आँख, हमारे मन और प्राण इत्यादि कहते हैं, हम देह हैं, हम आंखें हैं, हम मन हैं और हम प्राण हैं इत्यादि तो नहीं कहते। 'हमारा' इस शब्द का व्यवहार करने से ही समझ में आता है कि तुम एक वस्तु हो और देहादि तुम से पृथक् कोई अन्य वस्तु हैं। अतएव तुम देहादि नहीं और वे देहादि जिन को तुम अपने माता पिता स्त्री पुत्रादि कहकर मानते हो वे भी तुम्हारे कोई नहीं हैं। घट रूप उपाधि द्वारा जैसे निरवच्छिन्न अनुपहित, और अंश रहित महाकाश को अवच्छिन्न वत्, उपहित वत्, और अंश वत् देखते हो तैसे ही अखण्डैक चैतन्य स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की वृथा 'अहं' रूप उपाधि द्वारा अंश के सदृश जीववत् प्रतीति होती है। जैसे घट रूप उपाधि के

ध्वंस द्वारा महाकाश में अंश अंशो भाव की प्रतीति नहीं रहती
वैसे ही जब तक जीव ब्रह्म में यह अंश अंशो भाव 'अहंता'
उपाधि के नाश द्वारा ऐक्य (जीव ब्रह्म का ऐक्य ज्ञान) प्राप्त
नहीं होता, तब तक जल तरंग वत् समझना चाहिये, जैसे तरंग
जल की ही हैं वैसे ही तुम भी उस 'ब्रह्म के ही हो, और समस्त जो
कुछ है सब ही ब्रह्म का ही है एक अखण्ड चैतन्य में भ्रान्ति के
वश हम, तुम और वह इत्यादि भेद से अंश अंशी भाव की
प्रतीति होती है। जिसकी सृष्टि और जिसका कर्मस्वरूप यह
संसार है, उसको ही अर्पण करके 'हम' और 'हमारे' के भाव
का त्याग करके यदि दासवत् जो कुछ कर्म हम करते हैं कर्त्तव्य
बुद्धि से करते जायें तो कर्मादि करके भी पद्म पत्रस्थ जल के
सदृश पाप पुण्य, सुख दुःखादि रहते भी निर्लिप्त रह सकते हैं।

३०—साधना और उपासना का प्रयोजन क्या है ? जीव
ब्रह्मैक्य ज्ञान प्राप्ति द्वारा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति और परमा-
नन्द की प्राप्ति। जीव और ब्रह्म अथवा ईश्वर में भेद है, यह
सब जानते हैं, किन्तु जीव और ब्रह्म या ईश्वर में परमार्थतः
कोई भेद नहीं है. वास्तविकतया दोनों एक हैं, यह अभेद ज्ञान
साधारण मनुष्यों को नहीं होता। इस ही अभेद ज्ञान की प्राप्ति
के लिये उपासना या साधना करनी पड़ती है।

३१—जीव मात्र ही क्या चाहते हैं ? सब आनन्द की इच्छा
करते हैं। आनन्द ही जीव मात्र का लक्ष्य है, आनन्द ही जीव
का अन्वेषणीय और उसके जानने का विषय है। आनन्द के
लिये मनुष्य तृष्णार्त मृग के सदृश विषय रूपी मरु भूमिमें इधर

से उधर दौड़ता फिरता है और मृग जल के सदृश कल्पित सुखों में भ्रम वश पड़ कर प्रतारित होता है और धोखा खाता हैं। आनन्द के लिये मनुष्य स्त्री का पाणिग्रहण, पुत्रोत्पत्ति· धनादि का उपार्जन और कितने उपाय करता है, परन्तु किसी से उस को शांति नहीं मिलती। क्या मृगतृष्णा के सदृश इन विषय सुखों से किसीको कभी शान्ति मिली है अथवा मिलेगी ? तृष्णा से दुःखी मृग जैसे भ्रांति से मरु मरीचिका को जल समझ कर भटकता है और धोका खाता है, वैसे ही मनुष्य भी आनन्द और शान्ति की आशा में अनित्य और दुःख रूप विषयों में भटकता हुआ केवल दुःख और अशान्ति ही भोगता है। इस प्रकार एक जन्म नहीं, बहुत जन्म जन्मान्तरों से अविवेक के वश वह 'नित्य आनन्द कहां है' यह न जानकर, अनित्य सुखों को नित्य मानकर उनका अवलम्बन लेकर आनन्द से वंचित होता है, और संतप्त तथा लाञ्छित होता है। अहो! मनुष्य को कितना अविवेक है कि इतना धोका खाता है और दुःख पाता है, तौ भी जल में वृक्ष की शाखा के अग्र भाग पर लगे हुए फल के प्रतिबिंब के स्वाद की तरह, अनित्य विषयानन्द की प्राप्ति के लिये आशा बाँधकर, संसार में क्या २ आडम्बर नहीं रचता, और सदा उधेड़ बुन में लगा रहता है। बालू के बांध के सदृश यह संसार कितने दिन ठहरेगा, यह बात उसको एक बार भी नहीं सूझती, वरन् अधिक दृढ़ता के साथ वह संसार के बन्धन में कसा जाता है, अर्थात् जिस प्रकार संसार बन्धन की वृद्धि हो, वह ही कार्य करता रहता है। जैसे ऊंट कांटे चबाता है और उन कांटों से

उसके मुख में घाव होकर रक्त निकलने लगता है, परन्तु उसके
वे कांटेदार घास पत्ती ऐसी अच्छी लगती हैं कि मुख में घाव
होने पर भी वह उनको खाता ही रहता है छोड़ता नहीं। अथवा
जैसे कुत्ता मांस प्रेमी होता है, मांस मिलना तो दूर की बात है
यदि हाड़ मिल जाय तब भी उसको खाता है। सूखी हड्डी
चबाते २ उसके मुख में घाव होकर रक्त निकलने लगता है तो
भी वह उसकी परवा नहीं करता, वरन सोचता है कि आहा
इस हड्डी में कितना रस है। इसलिये वह उसको प्राणान्त होने
तक छोड़ना नहीं चाहता, यदि कोई उसको ताड़ता हैं तो हड्डी
को मुख में दबाकर भागता है और किसी निरुपद्रव स्थान में बैठ
कर उसे बार २ चबाता है। मोहान्ध मनुष्य का भी ऐसा ही
हाल है स्त्री, पुत्र और धनादि के लिये वह इतना दुःख और
चिन्ता में पड़ा रहता है तौ भी वह उनकी आसक्ति और ममता
का त्याग नही कर सकता। यद्यपि स्त्री संभोग करने पर संभोग
के अन्त में क्षणिक विरक्ति आती है और कभी २ स्त्रीके दुर्व्यव-
हार अथवा दुर्वाक्य द्वारा दुःखी और व्यथित होकर उससे विरक्त
होता है, तौ भी थोड़ी देर पीछे स्मशान वैराग्य के न्यायवत
सब भूलकर कामवश अथवा मोह वश सोचता है 'अहा! हमारी
स्त्री के समान ऐसे अच्छे स्वभाव वाली भक्तिमती और सेवा
परायणा दूसरी कौन ऐसी है जो हमारी इस प्रकार सेवा करेगी,
प्रेम करेगी और इस प्रकार हंस कर अपने मन की बात
कहेगी"। हाय! मनुष्य का मोह! 'स्त्री की हंसीही उसकी फांसी
की रज्जु हैं' उसको एक बार भी ऐसा विचार आने का अवसर

नहीं मिलता। इसलिये वह मोह कल्पित प्रेम रज्जु के बन्धन में पड़कर अत्यन्त संताप भोगता हुआ भी कष्ठ मय दुःख को सुख मान कर निश्चिन्तता पूर्वक कुत्ते के सूखी हड्डी चबाने के सदृश हाड मांस के उस पिण्ड को ग्रहण करके मत्त रहता है। वह हतभाग्य एक बार भी नहीं सोचता और सोचने का उसको अवसर भी नहीं मिलता,कि मल पूर्ण इस मांस पिंडमें नित्य शांतिऔर आनन्द नहीं है, यह तो दुःख पूर्ण ही है। पुत्र की इच्छा से स्त्री का पाणिग्रहण करता है। जब तक पुत्र नहीं होता तब तक दम्पति अत्यन्त कष्ट पाते रहते हैं परन्तु जब स्त्री गर्भवती होती है तब गर्भपात की आशंका से भयभीत और दुःखी रहते हैं, यदि निर्विघ्नता से सन्तान प्रसव हो जाय तो ग्रह रोगादि की चिन्ता से व्याकुल होते हैं। कुमार अवस्था में पुत्र यदि धूर्त और दुराचारी हो जाय तो माता पिता अत्यन्त दुःखी होते हैं। पुत्र बड़ा होकर किस प्रकार लिखे पढ़ेगा, दो पैसे कमाकर माता पिता को देगा और विवाहादि करके उनके सदृश ही सुखी होगा, इस प्रकार की चिन्ताओं से मनुष्य अस्थिर चित्त रहता है, और दुःख पाता है। जब पुत्र यौवन में पैर रखता है तब पुत्र का विवाह न होने से उसके पर स्त्री गमन का भय, भविष्य में दारिद्रय का भय, और किसी तरह पुत्र मर न जाय इसी तरह की नाना प्रकार की दुश्चिन्ताओं द्वारा व्यग्र होकर वह दुःख पाता रहता है, परन्तु मनुष्य इतना मोहांध है कि पुत्र द्वारा नित्य सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह विचार करने का उसको कभी समय ही नहीं आता।

मनुष्य सोचता है कि धन होने से शान्ति मिलती है। य
धन हो जाता है तो तरह २ के लोभ उपस्थित होकर हृदय
सन्तप्त करते रहते हैं, और धन न हो तो दारिद्र्य से ना
प्रकार का दुःख होता है। धन हो तो चोरी होने का भय, रा
से भय, और स्वजाति के लोगों से भय उत्पन्न होता है। ध
के उपार्जन करने में दुःख, खर्च होने में दुःख और रक्षा कर
में भी दुःख होता है। धन के होने पर अभिमान की वृद्धि हो
है, अभिमान द्वारा ऐसा कौनसा पाप है जो नहीं होता
धनी को अपने पुत्र से भी भय रहता है और नाना विधि क्ले
उठाता है। धन इतना दुःखदायक होने पर भी मोह बद्ध मनु
धन की आशा से ही नित्य प्रति यहां से वहां मारा
फिरा करता है और दुःख उठाता है परन्तु तो भी परमार्थ रू
धन की खोज के लिये उसको समय नहीं मिलता। पापों
मनुष्य का चित्त इतना कलुषित हो जाता है कि वह स्त्री पु
धन तथा और भी अन्यान्य वस्तुओं से इतना दुःख पाकर
आनन्द की खातिर संसार के विषयों की ओर ही छटपटा
है, 'आनन्द तो नामरूप उपाधियुक्त अनित्य वस्तुओं में नहीं
वह तो नित्य आनन्दस्वरूप श्री भगवान में ही है' ऐसी विचा
बुद्धि का उदय उसको नहीं होता। बहुत जन्म जन्मान्तरों
बाद वेद शास्त्रों के अभ्यास और पुण्य कर्मों के प्रभाव से ज
मनुष्य को सत्संग का लाभ होता है और वह सदाचार
प्रवृत्त होता है, तब ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, कि अनित्
विषयों का समूह सुखमय नहीं है केवल दुःख और अशा

पूर्ण ही है। जैसे कोई किसी के मस्तक पर तप्त अंगार डालदे और वह मनुष्य शीतलता के लिये जल के समीप दौड़ कर जाय, वैसे ही मनुष्य त्रितापों से अत्यन्त संतप्त और दुःखी होकर 'कैसे यह दुःख दूर होगा किसके पास जाने से संतप्त प्राण शीतल होंगे और निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होगी' ऐसा सोचकर व्याकुलता से आनन्ददाता श्रीगुरू की खोज करता है, तब सत्संग और सदाचार के पालन द्वारा पाप क्षय होने पर सद्‌गुरु का लाभ और उनकी कृपा की प्राप्ति होती है। सद्‌गुरु की कृपा से उसका सर्वसिद्धिद्वार खुल जाता है, सकल बंधनों का नाश हो जाता है और मोक्ष प्राप्ति के लिये सब प्रकार के विघ्नों का लय हो जाता है और परम मंगल आ उपस्थित होता है। जन्म के अंधे को जैसे किसी प्रकार रूप का ज्ञान नहीं हो सकता उसी तरह सद्‌गुरु के आदेश के बिना कोटि २ जन्म में भी तत्व ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता।

सद्‌गुरु की कृपा होने से भगवत कथा श्रवण में और ध्यानादि में श्रद्धा उत्पन्न होती है, क्रमशः हृदयस्थ दुर्वासना रूप ग्रन्थियों का नाश होने लगता है और भक्ति, वैराग्य, तथा ज्ञान का उदय होता है। भक्ति और वैराग्य द्वारा जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान परिपक्व होने पर विषय वासना सहित शुभाशुभ सर्वविध कर्मों का नाश हो जाता है। सदा के लिये दुःख दूर हो जाते हैं और मोक्षस्वरूप निरवच्छिन्न परमानंद की प्राप्ति होती है, अर्थात् योगियों ऋषियों के सतत् वाञ्छित अत्युत्तम जीवन मुक्ति पद का लाभ होता है। यहां अर्थात् जीवन मुक्ति

की अवस्था प्राप्त होने पर मनुष्य को सब कामनाओं से विरा
मिलता है, फिर उसको और खोज करने को अथवा जानने
कुछ नहीं रहता।

३२—आजकल भक्तिमान और विचारवान गृहस्थियों
कोई २ पूछा करते हैं कि क्या इस गृहस्थाश्रम में रहकर ह
लोगों के लिये मोक्ष का कोई उपाय नहीं है। क्यों नहीं
जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान द्वारा मनुष्य की मुक्ति होती है, अर्थ
अपने अखंड चैतन्य स्वरूप में स्थिति लाभ करके वह परमानं
की प्राप्ति करता है। इसलिये चाहिये कि अपने २ वर्णाश्रमोचि
धर्म और आचारादि के पालन द्वारा चित्त निर्मल करें। केव
सन्यास आश्रम ग्रहण कर लेने से ही मुक्ति नहीं होती। जि
किसी भी आश्रम में रहो उसी आश्रम में रहकर यदि अप
धर्म पालन करते रहोगे तो मुक्ति का उपाय मिल जायगा। इ
विषय पर एक सुन्दर कथा है:—

किसी एक समय एक धार्मिक राजा के मन में सब शा
के अध्ययन करने पर यह विचार उत्पन्न हुआ कि गृहस्थाश्र
और सन्यास आश्रम दोनों में कौन सा आश्रम अच्छा है औ
जो अच्छा हो उसी में रहना उचित है। यह सोचकर निश्च
करने के लिये उस राजा ने सब ब्राह्मणों और पंडितों क
बुलाया और उनसे उक्त प्रश्न पूछा। ब्राह्मण पंडित सब ह
गृहस्थी थे, इसलिये अपने गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा कर
लगे और उन्होंने शास्त्रों की युक्तियां देकर राजा को संतु
करने में त्रुटि नहीं छोड़ी। परंतु राजा के चित्त को उन

संतोष नहीं हुआ। फिर उसने राज्य में जितने संन्यासी थे, सबको बुलाकर श्रद्धापूर्वक यथारीति पाद्यार्घादि द्वारा पूजा करके उनको उपयुक्त आसनों पर बिठाया और संन्यासियों के उपयुक्त भिक्षादि द्वारा उनकी सेवा की, तत्पश्चात् जिज्ञासा की कि गृहस्थाश्रम और संन्यास आश्रम दोनों में कौन सा श्रेष्ठ है? संन्यासियों ने अपने चतुर्थ संन्यास आश्रम को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की। परन्तु सब शास्त्रों के वेत्ता उस राजा ने प्रबल युक्तियों द्वारा उनका खण्डन करके अपने गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का मंडन किया। संन्यासियों को, राजा की वाक्य पटुता का कोई प्रत्युत्तर न आने पर पराजय स्वीकार करनी पड़ी। तब राजा ने कहा कि आप सद्बुद्धि से अपने आश्रम की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं कर सके, इसलिये आपकी जीविका निर्वाह के लिये आप लोगों को मैं कुछ संपत्ति देता हूं आप प्रायश्चित करके फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। इस प्रकार जितने संन्यासी उस राजा के राज्य में आते, सब से ही वह यह प्रश्न पूछता और इसी तरह उनको गृहस्थी बना लेता। एक दिन उसकी राजधानी में एक तेजस्वी युवा सन्यासी आया। पहिनने को एक मात्र कोपीन, सारा शरीर भस्माच्छादित, दाहिने हाथ में दण्ड, और वाम हस्त में काठ का कमण्डलु धारण किये था। देखने में अपूर्व मूर्ति था, मन में आता था मानों उसके अंग की ज्योति प्रभात कालीन अरुणोदयवत् तिमिर रूपी भस्म को हटाती हुई चमक रही है। जैसे चन्द्र में कलंक रहते हुये भी वह चन्द्रमा की ज्योति को नष्ट नहीं कर सकता, उसी तरह

उसके सारे शरीर पर रमी हुई भस्म उसके अंग की ज्योति को
प्रभा हीन करने में असमर्थ थी। आहा! रूप देख कर विचार
होता था कि मानो सारे रूप की सौन्दर्य-समष्टि से विधाता ने
उसके रूप की रचना की है और सन्यास धर्म की मर्यादा की
रत्ता करने के लिये ही उसको इस मर्त्य लोक में भेजा है। जब
उस संन्यासी के आने की बात, उसके रूप, विद्या और योग
सिद्धि का समाचार सारी राजधानी में फैलने लगा और राजा
के भी कर्ण गोचर हुआ, तब राजा संन्यासी के समीप आया
और यथा विधि पाद्य अर्घादि से पूजन करके उसको अपने
स्थान पर ले गया और यथा रीति सेवा करके जिज्ञासा की,
"हे भगवन्! शास्त्र रूप जाल में पड़ने से मेरी बुद्धि मोह में
पड़ गई है। गृहस्थाश्रम और संन्यास आश्रम दोनों में कौन सा
श्रेष्ठ है और कौन से आश्रम में रहना हमारा कर्तव्य है, यह
मेरी समझ में नहीं आता, अत एव आप कृपा पूर्वक मेरे प्रश्न
का यथार्थ उत्तर देकर मेरे संशय को दूर करें।" राजा की बात
सुन कर उस यति-श्रेष्ठ संन्यासी-प्रवर ने मंद मृदु हास्य हंसते
हुये शान्त भाव से उत्तर दिया "राजन! एक वर्ष के पीछे मैं
इस प्रश्न का उत्तर दूँगा, तब तक आपको ब्रह्मचर्य पालन करते
हुये मेरे संग में रहना होगा।" राजा ने उसकी बात स्वीकार
करली और मंत्री वर्ग को बुलाकर कहा कि हम एक वर्ष के
लिये राज्य में नहीं रहेंगे, तुम इस प्रकार कि प्रजा के मन में
कोई दुःख न होवे राज्य कार्यादि का परिपालन करना। इसके
पश्चात् राजा संन्यासी के साथ राजधानी के बाहर चला गया

और संन्यासी के पीछे २ सेवक की तरह चलने लगा। अब राजा राजा नहीं था, आज वह संन्यासी का सेवक एक ब्रह्मचारी है. आज उस को राज्य का अभिमान नहीं। वह राज्याधिपति होते हुये भी आज अपने मन का संशय मिटाने के लिये मार्ग में कङ्गले की तरह जा रहा है। जिसके संकेत पर लाखों मनुष्य नाचते थे और जिसके आदेश की उपेक्षा करने पर लाखों मनुष्य दण्ड के भागी होते थे, वही राजा भस्म लगे शिर मुण्डे एक भिक्षुक के आदेश पालनार्थ सेवक के सदृश पीछे २ चल रहा है। धन्य राजा को जानने की प्यास! जब तक अभिमान नष्ट नहीं होता, तब तक क्या कोई सेवक बन सकता है अथवा तत्व का ज्ञान पा सकता है? सेवक को ही गुरु सेवा द्वारा उनकी प्रसन्नता सम्पादन करने से तत्व ज्ञान मिलता है। धार्मिक और शास्त्रज्ञ राजा यह बात जान कर ही संन्यासी की आज्ञा पालने को प्रस्तुत हुआ था और राज्य छोड़ कर बाहर निकल पड़ा था। कुछ दिन इसी तरह राजा और संन्यासी चलते २ किसी दूसरे राज्य में पहुंचे। राजधानी के समीप पहूंच कर उन्होंने देखा कि बहुत से मनुष्य श्रेणि-बद्ध हो कर आ जा रहे हैं और मंगल सूचक नाना प्रकार के बाजे बज रहे हैं। संन्यासी ने किसी मनुष्य से पूछा "ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं और बाजे क्यों बज रहे हैं?" उत्तर में उस मनुष्य ने कहा कि राजा के एक मात्र कन्या है जो परम सुन्दरी है उस राज कन्या का आज स्वयंवर होगा। वहां पर राज कन्या अपनी इच्छानुकूल अपना वर पसन्द करेगी और उसी के साथ उसका विवाह होगा।

इस लिये ये सब लोग स्वयंबर देखने जा रहे हैं और मंगल
सूचक बाजे बज रहे हैं। पूर्व समय में उस समय की रुढी के
अनुसार राज कन्यायें स्वयं ही अपना पति पसंद किया
करती थीं। जो सुन्दर पति चाहती थी वह सुन्दर वर को, जो
वीर पति चाहती थी वह वीर को, और जो शास्त्र और कलादि
विद्या निपुण चाहती थी, वह शास्त्रज्ञ और कलादि विद्या निपुण
को पति वरण करके अपने को सुखी और कृतार्थ मानती थी।
संन्यासी उक्त स्वयंबर की बात सुन कर राजा से कौतुहल वश
बोला, राजन्! चलो हम भी इस स्वयंबर को चल कर देखेंगे।

तत्पश्चात् दोनों ने उस स्वयम्वर में जाकर देखा कि लाखों
मनुष्य हैं, सभा में प्रवेश करना तक कठिन है। भिन्न २ देशों के
राजकुमारों के तंबू इत्यादि लगे हुये हैं और वहां एक अस्थायी
नगर का निर्माण हो गया है। उसको दूर से देख कर विचार
होता है मानो हिमालय की विभिन्न पर्वत श्रेणी बरफ से ढकी
हुई हैं। उस नगर का दृश्य बड़ा अपूर्व था। तंबू इत्यादि से
निर्माण कृत उस नगर के मध्य भाग में सभा मंडप का निर्माण
किया गया था। दोनों सन्यासी और राजा सभामण्डप के
सन्मुख भीड़ होने के कारण खड़े होने में असमर्थ होने से एक
कोने में खड़े होकर सब कुछ देखने लगे। इतने में संध्या होने के
पूर्व देखा कि एक पालकी में राजा, एक पालकी में राजकुमारी
और अन्यान्य पालकियों में राज पण्डित तथा राज पुरोहित
राजमहल से बाहर निकल कर सभा की ओर आ रहे हैं। राज
कुमारी की पालकी सुगंध और उत्तम २ पुष्पादि द्वारा सुसज्जित

थी और एक थाल में पुष्पमाला और चन्दनादि रखे थे। सभा के निकट यानों को ठहरा कर राजा और राजकुमारी सब वहां उतर गये और भिन्न २ देशों से आमन्त्रित राजकुमारों के समीप जाने लगे। स्वयम्वर की प्रथा के अनुसार राजकुमारी के पक्ष के ब्राह्मण, पण्डितगण राजकुमारी की बड़ी प्रशंसा और स्तुति करने लगे और राजकुमारों के पक्ष के प्रत्येक राजकुमार के ब्राह्मण-पण्डितों ने भी राजकुमारों की प्रशंसा और स्तुति करने में कमी नहीं रखी, परस्पर के रूप और गुणादि के श्रवण द्वारा मन आकृष्ट हो, इस अभिप्राय से उक्त प्रकार दोनों पक्षों का स्तुति कथन आरम्भ किया गया था। उस दिन राजकुमारी ने, सब राजकुमारों के समीप उपस्थित होकर भी किसी को वरण करने में समर्थ न होने के कारण पिता को अगले दिन के लिये फिर सभा बुलाने का अनुरोध किया और राजमहल की ओर लौट चलने के लिये कहा। राजा राजकुमारी के अभिप्राय के अनुसार राजकुमारों से निवेदन पूर्वक अगले दिन सभा में फिर सहयोग देने का अनुरोध करके राजमहल में चले गये। यह देख कर सन्यासी राजा से बोला 'राजन्! कल फिर यहां आकर देखेंगे क्या होता है, ऐसा कह कर वे दोनों भी समीप के किसी स्थान में चले गये। दूसरे दिन वे फिर उस सभा में आकर अपने पूर्व निर्धारित स्थान पर खड़े हो गये। उस दिन भी ठीक गत दिवस की तरह राजा और राजकुमारी सभा में आये परन्तु फिर भी राजकुमारी ने किसी को पसन्द नहीं किया और दुःखित चित्त होकर पिता से कहने लगी कि हे पिताजी, अगले दिन फिर

यहां सभा होने का प्रबन्ध कीजिये और राजकुमारों से ठहरने के लिये अनुरोध कीजिये। राजा मन ही मन अत्यन्त दुःखी हुये परन्तु इकलौती कन्या की ममता के वश कन्या के कहने के अनुसार विनयपूर्वक राजकुमारों से कहने लगे कि आज भी राजकुमारी ने किसी को पति नहीं वरण किया है, इस लिये आप अनुग्रह करके कल फिर सभा में सहयोग प्रदान करें। ऐसा कहकर उस दिन भी राजा अपने महलों में चले गये। राजकुमारी की इच्छा थी कि किसी परम सुन्दर पुरुष को पति वरण करूं। इस लिये उसकी पसन्द का वर न मिलने से दोनों दिन विफल मनोरथ होकर वह चली जाने को बाध्य हुई। तीसरे दिन राजकुमारी क्या स्थिर करेगी यह जानने के लिये सन्यासी अत्यन्त कौतुहल वश होकर अपने साथी राजा से बोले 'राजन्! कल फिर देखना होगा।' राजा तो सन्यासी की आज्ञा के वश था ही जो कुछ सन्यासी कहते थे वह सब उसको शिरोधार्य ही था, इस लिये सन्यासी के कहने के अनुसार उस दिन भी समीपस्थ किसी गांव में जाकर रात्रि व्यतीत की और फिर अगले दिन भी अपने २ नित्य कर्मादि के अनुष्ठान और भोजनादि के पीछे विश्राम करके तीसरे पहर उस सभा में उपस्थित होकर उस ही पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर खड़े २ राजा और राजकुमारी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। आज भी पूर्व निर्धारित समयानुसार पूर्ववत राजा और राजकुमारी प्रभृति सब सभा में आकर प्रत्येक राजकुमार के निकट उपस्थित होने लगे। राजकुमारी का अपूर्व रूप लावण्य देख कर सब

राज कुमार भी आकृष्ट हो गये थे और प्रत्येक ही मन में सोचता था कि संभव है राजकुमारी मुझ को ही पति वरण करके कृतार्थ करदे। गत दिवस राजकुमारी किसीको पति नहीं वर सकी इसलिये राजकुमारों में नाना प्रकार की आलोचना होने लगी थी कि यदि तीसरे दिन भी वह किसी को पति नहीं वरण करेगी तो उसको युद्ध करके ग्रहण करना चाहिये। क्षत्रियों में युद्ध करके स्त्री अपहरण करने की प्रथा थी। शास्त्रों में उसको राक्षस विवाह कहा गया है। राजकुमारी के सौन्दर्य से मोहित हो कर सब राजकुमार इस प्रकार मंत्रणा कर रहे थे। उन के मंत्री वर्ग में से एक वृद्ध मंत्री ने पराये राज्य में निमन्त्रित हो कर इस प्रकार युद्ध करने से भविष्य में विपद की संभावना होगी, यह सोच कर उनको उनके संकल्प से निषेध किया। तीसरे दिन भी जब राजकुमारी ने किसी को पति नहीं वरा, तब राजा चिन्ता करने लगा कि हमारी कन्या के भाग्य में गृहस्थ सुख नहीं है। आये हुए राजकुमार भी आश्चर्ययुक्त होकर परस्पर में कहने लगे कि न जाने राजकुमारी के भाग्य में क्या है, इतने में राजकुमारी राजा और पंडितों से आगे बढ़ी, और सभा मण्डप के बाहर एक कोने में खड़े हुए भस्म लगाये, मुण्ड मुड़ाये, कोपीन पहिरे, दण्ड कमण्डलु धारी उस ही परम सुन्दर सन्यासी पर उसकी दृष्टि पड़ते ही, जैसे पतंग जलती हुई अग्नि को देख कर मुग्ध हो कर उसकी ओर झपटता है, उसी तरह वह भी उस संन्यासी के दर्शन मात्र से उसके ज्योतिष्मान रूप पर आकृष्ट हो कर मनही मन उसको पति वरण करती हुई उस

संन्यासी के समीप जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ी और तत्पश्चात् तत्क्षण उठकर थाल में से पुष्प माला और चंदनादि लेकर उसने संन्यासी के गले में माला डाल दी। परन्तु संन्यासी ने तत् क्षण ही उसको गले में से उतार कर फेंक दिया। राज-कुमारी को क्या मालूम था कि वह संन्यासी है, भार्या ग्रहण करके सन्तान उत्पन्न करना उसके लिये धर्म विरुद्ध कार्य है, इसी लिये उसने संन्यासी को पति वरण करके उसके गले में पुष्प माला डाली थी। जब संन्यासी ने गले से बरमाला उतार कर फैंक दी, तब राजकुमारी के पिता ने सोचा, कि भिक्षुक होने के कारण, यह सोच कर कि राजकुमारी का भरण पोषण नहीं कर सकूंगा, वह राजकुमारी को भार्या ग्रहण करने को राजी नहीं होता है। इसलिये राजा ने हाथ जोड़ कर कहा कि यह मेरी एक मात्र कन्या है आज ही मैं अपना सारा राज्य इसके अर्पण करता हूं. आप इस कन्या को भार्या ग्रहण करें। राजा के शब्द सुन कर राजकुमारी फिर बरमाला संन्यासी के गले में डालने को उद्यत हुई। कोई उपाय न देखकर संन्यासी तुरन्त वहां से भाग निकला। राजकुमारी उसके शोक से मोहित होकर मन ही मन चिन्ता करने लगी कि जब मैं ने अपने अन्तरात्मा को साक्षी वना कर प्रतिज्ञा करके उनको एक बार पति मान कर हृदयासन पर बैठा लिया है, तब उसी आसन पर दूसरे पुरुष को बैठा कर व्यभिचारिणी बनूंगी और धर्मानुसार पाप की भागिनी होऊंगी, पति तो स्त्री का एक मात्र गुरु होता है और स्त्री का एक मात्र आश्रय और आलंबन

भी पति ही है। जैसे लता वृक्ष का आश्रय लेकर बढ़ती है और उस वृक्ष के नष्ट हो पर लता भी आश्रय हीन और प्रभाहीन हो जाती है उसी प्रकार सती स्त्री का एक मात्र आश्रय पति है और पति विहीना होने पर उसके भी आश्रय और जीवन की शोभा नष्ट हो जाती है। यह शरीर मैं ने जिसको अर्पण कर दिया है और जिसको मैंने इस हृदय का देवता बना लिया है वह इस प्रकार मुझको त्यागकर जब चले गये तब इस अनित्य शरीर को धारण रखने की आवश्यकता क्या है ? इस अनित्य पितृ संपत्ति द्वारा भी मुझ को क्या सुख मिलेगा ? ये राजमहल आज मुझको स्माशन तुल्य दिख पड़ते हैं। अतःएव मेरे हृदयनाथ, प्राणों के स्वामी, जीवन वल्लभ जिस रास्ते से गये हैं, उसी रास्ते से जाना अच्छा है। यह निश्चय करके राजकुमारी वापिस नहीं लौटी और अपने अभीष्ट पति संन्यासी के पीछे पीछे दौड़ने लगी। परन्तु रास्ता चलने का अभ्यास न होने के कारण कोमलाङ्गी राजकुमारी क्या उसको पकड़ सकती थी ? इसलिए थोड़ी दूर जाते जाते परिश्रम से क्लान्त होकर गिर पड़ी। परन्तु तौभी राजकुमारी ने दृढ़ प्रतिज्ञा के वश संन्यासी का पदानु-सरण करके पीछे पैर नहीं हटाया। इतने अवसर में वह संन्यासी और उसका साथी राजा एक गहन जंगल में प्रवेश करके शीघ्र राजकुमारी की दृष्टि से ओझल हो गये। रात्रि होजाने पर हिंसक जन्तुवों से पूर्ण उस अरण्य में जीवन संकट के भय की संभावना कर, मन में जब वे संकल्प विकल्प

कर रहे थे कि क्या करना चाहिए, उस समय उन्होंने थोड़ी दूर पर एक बड़े वट वृक्ष को देखा। वट वृक्ष को देखकर मन में आता था मानो वह अपनी शाखा प्रशाखाओं का विस्तार करके निराश्रय मनुष्यों को आश्रय देने के लिये सादर अवाहन कर रहा है। संन्यासी और राजा उस वट वृक्ष के समीप गये और उन्होंने वृक्ष के भीतर एक सुन्दर गुफा सी देखी। अहा भक्तवत्सल श्री भगवान ने उनकी रक्षा के लिए उस वट वृक्ष के खोखले तने में पहिले से ही ऐसी सुन्दर गुफा का निर्माण कर रखा था। उस गुफासी को देखकर संन्यासी ने राजा से कहा "राजन्! इस रात्रि को इसी में निर्वाह करना होगा और प्रभात होने पर यहां से किसी निरापद अन्य स्थान को चलेंगे।" उस वट वृक्ष पर एक शुक और सारिका का जोड़ा रहता था। वृक्ष के नीचे एक राजा और एक संन्यासी ने आश्रय ग्रहण किया है यह देखकर शुक ने अपनी सहधर्मिणी सारिका से कहा "देखो सारिके! आज हमारा कितना बड़ा सौभाग्य है कि हमारे द्वार पर साक्षात् नारायण दो अतिथियों के रूप में पधारे हैं। इनमें से एक संन्यासी और दूसरा राजा है। शास्त्र में लिखा है 'दण्ड ग्रहण मात्रेण नरो नारायणो भवेत्' 'साक्षात् नारायणों यतिः' और श्री भगवान गीता में कहते हैं 'नराणां चनराधिपः' अर्थात् मनुष्यों में मैं राजा हूँ। देखो सारिके! एक तो अतिथि सब की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, उस पर आज दोनों अतिथि साक्षात् नारायण हैं, इसकी अपेक्षा हम लोगों को और क्या परम सौभाग्य की बात होगी? बहुत जन्म-जन्मान्तरों

के सुकृतों के फल से आज इस तरह नारायण मूर्त्ति दो अतिथियों का साक्षात्कार हुआ है। हम लोगों का भाग्यबल ही उनके शुभ पदार्पण इस स्थान पर लाया है, इसमें संदेह नहीं। आज हमारे पक्षी जन्म सफल हुए हैं। सारिके! शास्त्र में लिखा है "अतिथि घर पर आकर भूखा नहीं ठहरना चाहिये, यदि अतिथि बिना भोजन पाये घर से जाता है तब अपनी पाप राशि उस घर वाले को देकर घर के स्वामी के संचित पुण्य ले जाता है।" इस प्रकार शास्त्र की बात सारिका को बता कर शुक ने पूछा 'क्या अपने घर में कुछ खानेको है ?' उसके उत्तर में सारिका ने कहा 'प्रभो थोड़ा जो खद्य पदार्थ कल लाये थे वह कल ही बच्चों को खिला दिया था।' यह सुन कर शुक बोला 'देख सारिके! एक तो माघ मांस की ठंड उस पर तीव्र हवा चल रही है, जिस से ठंड और भी अधिक हो रही है, इस लिये जिस प्रकार इन नारायण स्वरूप दोनों अतिथियों की शीत निवारण हो, ऐसा कोई उपाय तो करना ही चाहिये, फिर खाने के लिये जैसा होगा देखा जायगा।' ऐसा कह कर शुक वहां से चला गया और दूरस्थ किसी गांव में जाकर अध जले लकड़ी के छोटे से टुकड़े को चोंच में दबा कर लाया और उसको अतिथियों के सन्मुख डाल दिया। संन्यासी अपने योगबल से समस्त प्राणियों की भाषा समझते थे, शुक सारिका में जो बातें हो रही थीं वे भी सब समझ रहे थे, अग्नि को पड़ते देख कर संन्यासी राजा से कहने लगे 'हे राजन्! इस जंगल में सूखे पत्ते और लकड़ी का अभाव नहीं है, कुछ सूखी लकड़ी एकत्रित

करके अग्नि प्रज्वलित करलो। अग्नि के सामने बैठने से इ
लोगों का शीतनिवारण हो जायगा और अग्नि प्रज्वलित रह
से वन के हिंसक पशुओं का भी भय नहीं रहेगा'। संन्यासी
आदेशानुसार राजा ने लकड़ी इखट्टी करके अग्नि प्रज्वलित
और दोनों उसके सन्मुख बैठकर तापने लगे। अतिथियों
अग्नि के सामने तापते देख कर शुक सारिका से कहने लग
'देख सारिके! इनके शीत-निवारण का तो उपाय हो गया, परं
इन के भोजन की व्यवस्था भी करनी चाहिये।' यह कह क
शुक ने सारिका से फिर कहा 'यह शरीर तो अनित्य है, इ
घड़ी है तो दूसरी घड़ी नहीं रहेगा, यह शरीर पहिले नहीं
भविष्य में भी नहीं रहेगा, केवल मध्य में हम उसका अनुभ
कर रहे हैं, इस लिये यह मरू मरीचिका के जलके सदृश मिथ्य
है। इस अनित्य शरीर में हमारी अहं बुद्धि का विषय
आत्मा है. उस ही नित्य चैतन्य का आश्रय लेकर सदा अहंबुद्धि
होती है, वह ही हमारा असली स्वरूप है। मैं और तुम दो
ही आत्मस्वरूप से नित्य हैं। घटादि के नष्ट हो जाने पर स
व्यापी आकाश नष्ट नहीं होता, उसी तरह देहादि के नष्ट हो
से नित्य आत्माका नाश नहीं होता। जैसे मूर्ख लोग सर्व व्याप
आकाश में घट पटादि भिन्न २ उपाधियों का आरोप कर
आकाश को नाना रूप से देखते हैं और घट पट के नष्ट हो
पर घटाकाश और पटाकाश का नाश मानते हैं, उसी तरह इ
अनित्य शरीर को जो अज्ञान वश आत्मा मानते हैं वे मूर्ख,
के नाश होनेपर, आत्मा का नाश मानकर शोकमोहादि से मोहि

होते हैं। सारिके! देख, अज्ञान वश मनुष्य सोचता है कि यह शरीर मैं हूँ और यह शरीर मेरा पति है, अथवा मेरी पत्नी, हमारे माता पिता और हमारे पुत्रादि हैं। इसलिये शरीर के नाश होने पर हमारा पति मर गया, मैं विधवा हो गई, या हमारे माता पिता अथवा पुत्र मर गए हम मातृ पितृ हीन व पुत्र हीन हो गये, ऐसा मानकर अपने शरीर को पीट २ कर रोते हैं और हाय २ करते हैं। जब तक श्री भगवान में भक्ति और आत्म अनात्म वस्तु के विचार द्वारा विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक जन्म के पीछे मृत्यु और मृत्यु के पीछे जन्म का प्रवाह चलता रहता है। प्रत्येक प्राणि का जन्म और मृत्यु अपने २ कर्माधीन है। अज्ञानवश मनुष्य पूर्वजन्म में किए हुये शुभाशुभ कर्मफल के अनुसार फिर देह प्राप्त करता है और उस देह में किए हुए कर्मों का फलस्वरूप अगला जन्म पाता है। इस प्रकार नित्य आत्मा को अनादि काल से सदा देह बन्धन होता आरहा है। कर्मों के फल के भोग के लिए ही मैं और तू पति पत्नि के रूप में मिले हैं। हिलते हुए पत्ते के सिरे पर ठहरी हुई जल की बून्द के सदृश इस क्षणस्थायी शरीर के लिए कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिए और उसकी नित्यता का विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रिये! आज मैं तुम्हारे सन्मुख अपने इस हाड़मांस के पिंजर को अतिथि सेवा के लिए इस प्रज्वलित अग्निकुण्ड में आहुति प्रदान करता हूं. यदि इस सामान्य मांस के द्वारा दोनों अतिथियों की सामान्यतः क्षुधा निवृत्ति हो जाये तो इस पक्षि देह

का जन्म सार्थक हो जायगा, यह कह कर शुक ने श्री नाराय
का मधुर नाम स्मरण करके अग्निकुण्ड में अपना शरीर झों
दिया और प्राण त्याग दिये। शुक जब अग्नि में कूद पड़ा त
संन्यासी अपने हाथों से उसकी रक्षा करने गया परन्तु र
नहीं कर सका। धन्य शुक पक्षि! दधीचि मुनि ने जिस प्रका
असुरों के पराजय और ध्वंस करने के लिए देवताओं
अनुरोध से अपनी हड्डियों का बज्र बनाने के लिए अप
शरीर को तुच्छ मानकर समाधि का अवलंबन लेकर देह त्या
किया था, उसी तरह शुक एक साधारण पक्षि ने अपने आश्र
धर्म की रक्षा करने के जिए अतिथि सत्कारार्थ अपने शरीर
तुच्छ जानकर परित्याग करने में किंचिंमात्र भी संकोच न
किया। शुक के आत्म त्याग को देखकर सारिका अपने आ
सोचने लगी 'ऐसे धार्मिक श्रेष्ट पति की पत्नी होकर आ
मैं भी धन्य और कृतार्थ हूँ मैं उसकी सहधर्मिणी हूं पति
धर्म कर्म में सहयोग देना पत्नि का प्रधान धर्म है। मेरा शरी
मेरे पति का आधा शरीर है। इस देह के रहते उसका ध
पूर्ण नहीं हो सकता, मैं एक मात्र उसी के आश्रित थी, मे
पति ने मृत्यु के समय मुझको जो परं उपदेश दिया, उस
अनुसार इस शरीर पर मेरी और ममता नहीं रही, आस्
का बोध जाता रहा। उनकी कृपा से समझ में आगया है कि
'मैं किसी की नहीं और इस संसार में कोई अपना नहीं
जो कर्मफल भोगने के लिए मुझको उनका पत्निभाव मिल
था, आज उसका धर्मपूर्ण करने के लिए मैं भी अपने इ

क्षुद्र पक्षि शरीर को साक्षात् अग्निदेवता में आहुति प्रदान करके जीवन सार्थक करूंगी। ऐसा सोचकर सारिका धर्मज्ञ और आत्मज्ञ पति के पद का ध्यान करती हुई अग्नि में कूद पड़ी और उसने भी प्राणों की आहुति दे दी। इस बार भी संन्यासी ने अपने हाथ से उसको वचाना चाहा परन्तु सारिका के जीवन की रक्षा न कर सका। धन्य सारिके! आज पति के धर्म की रक्षा करने के लिये अपने शरीर को अति तुच्छ मान कर त्याग देने में तूने अपने वास्तविक सहधर्मिणी होने का परिचय दिया है। गृहस्थाश्रमियों को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि किस तरह गृहस्थ आश्रम में रह कर धर्म का पालन किया जाता है। पति के धर्म की रक्षा करने में सारिका को अपनी संतान का भी मोह नहीं आया। जिस स्थान पर धर्म का अनुष्ठान हो उस स्थान पर मोह कैसे रह सकता है? धर्म ही एक मात्र रक्षक है, धर्म का जो आश्रय लेते हैं, धर्म भी उनकी रक्षा करता है। शास्त्र में कहा है धर्म का यदि थोड़ा भी अनुष्ठान किया जाय तो अनुष्ठान करने वाला महान भय से त्राण पाता है। सारिका परम धार्मिका थी, उसके मन में किंचित भी भय अथवा चिन्ता नहीं आई। इसलिये मरने पर संतानों की क्या अवस्था होगी, इस चिंता को उसके मन में आने का अवसर नहीं मिला। केवल किस प्रकार पति के धर्म की रक्षा होवेगी इसी भाव से उसका हृदय परिपूर्ण था। पति के उपदेश से सारिका को अनात्म देह आदि पर से देहात्म बुद्धि दूर हो गई थी और मोह नहीं रहा था। आज कल तो पति के धर्म कर्म

में और दान इत्यादि में थोड़ा धन भी दान करने पर स्त्री कहने लगती है कि हमारे गहने तो बनवाते समय रुपये नहीं रहते और इस समय खूब रुपये हाथ में आ जाते हैं। ऐसे धन लुटाने वाले के पल्ले पड़ी हूं कि जीवन कष्टमय बीत रहा है, न तो इच्छानुकूल खाने पहिनने को मिलता है और न कुछ बंधु बांधवों को दिया जा सकता है, इत्यादि नाना बातें कह कर पति के साथ कमर कस कर झगड़ा करती हैं। शुक और सारिका ने अपने देह त्याग दिये, तब उनकी संतानें परस्पर में इस प्रकार कहने लगीं "भाई! हम लोगों को इस अनित्य देह धारण करने से क्या लाभ? शास्त्र में कहा है कि पिता ही धर्म, पिता ही स्वर्ग और पिता ही परं तपस्या है. हमारे पिता के संतुष्ट होने से सब देवता संतुष्ट होंगे। अत एव यद्यपि हमारे पिता का अर्थात् उनके देह को भ्रांति वश हम अपना पिता कहते थे, अब उस देह का अभाव हो गया है तथापि उनकी आत्मा तो विद्यमान है ही। हमारा धर्म है कि माता पिता के धर्म को पूर्ण करें। दो साधारण पक्षियों के देह से दो अतिथियों की क्षुधा निवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसलिये आवो, हमारे लिये आज यह शुभ मुहूर्त है कि माता पिता के पदाङ्क का अनुसरण करके हम भी इस तुच्छ अनित्य शरीर को अतिथि सेवा के लिये इस अग्नि में प्राणाहुति देकर पिता की स्वर्गवासी आत्मा को तृप्त करें। ऐसी सबने परस्पर सलाह करके एक २ करके अग्नि में कूद कर प्राण त्याग कर दिये और स्वर्ग को गमन किया। धन्य पितृ भक्ति! जिनके माता पिता ऐसे धार्मिक हों उनके औरस

पुत्र भी धार्मिक ही उत्पन्न होते हैं।

जब भोर हुई, तब संन्यासी ने राजा से कहा 'राजन्! आज मैं आपके उस प्रश्न का उत्तर देता हूँ, उसे सुन कर आपकी जिस आश्रम में रहने की इच्छा हो उस आश्रम में रहिये। हे राजन्! जो जिस आश्रम में है यदि वह उस आश्रम के उचित धर्म और आचारादि का यथा विधि पालन करता है तो वह उसी आश्रम में रह कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। तेल की धार वत् निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं। इस आनन्द प्राप्ति का प्रति बंधक मोह है, अर्थात् अनात्म वस्तु में आत्म भाव का बोध। 'देहादि हम नहीं, हम नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा हैं' ऐसे ज्ञान द्वारा मोह को नष्ट करने पर उस निरवच्छिन्न आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है और दुःख शोकादि का सदा के लिये अन्त हो जाता है। हे राजन्! गृहस्थ धर्म का ज्वलन्त दृष्टांत देखिये—शुक और सारिका। यदि गृहस्थ आश्रम में रहना है तो अपने गृहस्थ आश्रम के धर्म को इस प्रकार प्राण देकर पालना होगा। मनुष्य का विशेषत्व उसके धर्म पालन में ही निहित है, जिसको धर्म का ज्ञान नहीं वह पशु तुल्य है। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि जैसे मनुष्य में होते हैं वैसे पशुओं में भी देखने में आते हैं। मनुष्य ही धर्म का अनुष्ठान करके ज्ञानोपार्जन की वृत्ति की वृद्धि द्वारा वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त करता है। साधारण मनुष्य ज्ञान और वैराग्य द्वारा अपने चैतन्य स्वरूप में स्थिति प्राप्त करके यथा रीति अपने २ वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान

करने में समर्थ होता है। यदि योगी त्रिकालज्ञ और समुद्र लांघने में समर्थ हो, तो भी शास्त्रीय और लौकिक आचारादि का मन से भी उल्लंघन नहीं करेगा. अर्थात् अपने २ आश्रमों में रह कर शास्त्रीय और लौकिक आचारादि का यथापूर्वक अनुष्ठान करेगा, उसकी कभी अवहेलना नहीं करेगा। राजा जनक और राजा (शिखिध्वज) मयूरध्वज इसके दृष्टान्त हैं। भूभार हरने के लिये श्री भगवान महाराज चक्रवर्ती श्री रामचंद्र और श्री कृष्ण-चंद्र अपनी माया के द्वारा मनुष्य रूप धारण करके यथारीति अपने २ वर्णाश्रमोचित धर्म और आचारादि के पालन द्वारा क्या संसारी मनुष्यों को शिक्षा नहीं दे गये हैं ? वे गृहस्थ आश्रम में रहे, यद्यपि उनको कोई कर्म कर्तव्य नहीं था तो भी संसार को कर्म में प्रवर्तित करने के लिये और शिक्षा देने के लिये शास्त्र-विधि के अनुसार सब कर्म करते रहे। हे राजन्! यदि सन्यास आश्रम ग्रहण करने की इच्छा है, तो परम सुन्दरी राजकन्या और राज्य प्रभृति को तृण के समान और जितने भोग विषय हैं उनको काक विष्टावत् त्याग कर सन्यास ग्रहण करके सन्यास आश्रमोचित धर्मों का पालन करना होगा। हे राजन् केवल आश्रम ग्रहण करके वेष धारण कर लेने से सन्यास नहीं होता। जैसे पुरुष स्त्री का वेश धारण करने से स्त्री नहीं बन जाता, वैसे ही वैराग्य के बिना सन्यास ग्रहण करने से मनुष्य को स्वरूप का अनुभव नहीं होता, जिससे शान्ति मिलती है। जितने ऐहिक सुख भोग और पारलौकिक स्वर्गादि के सुख भोग हैं सबसे जिसको वितृष्णा उत्पन्न हो गई है, वह श्री गुरु के समीप जाकर

विधिपूर्वक कर्मादि का त्याग करके सन्यास आश्रम ग्रहण करे और जीव ब्रह्मैक्य अभेद मूलक महावाक्यादि के विचार द्वारा शान्ति प्राप्त करे। हे राजन्! चतुर्थ आश्रमी सन्यासीके लिये कर्म त्याग विधि और द्वितीय आश्रमी गृहस्थी के लिये फल त्यागविधि है परन्तु कर्म का त्याग नहीं है। सन्यासी के इस प्रकार उपदेश करने पर राजा को होश आया, उसको अपनी भूल सूझ पड़ी और उसी समय सन्यासी के चरणों में गिर कर कातर स्वर से कहने लगा 'प्रभो, हे गुरुदेव! आपकी कृपा से आज मन का संशय दूर हुआ और मैंने ज्ञान लाभ किया। वास्तव में आश्रम ग्रहण करना मात्र मोक्ष का उपाय नहीं है। मोक्ष का उपाय तो भक्ति और ज्ञान है। श्री भगवान की भक्ति के द्वारा स्वतः ही वैराग्य और ज्ञान की प्राप्ति होती है और जल तरंग वत् ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई भेद नहीं है यह अनुभव होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्री भगवान में भक्ति उत्पन्न होने के लिये प्रथम साधन सत्संग है, बहुत जन्मजन्मान्तरों के सुकृतों के फल से आपका सत्संग मुझ भाग्यवान को प्राप्त हुआ है। दूसरा उपाय श्री भगवान की कथा वार्ता है, तीसरा उपाय श्री भगवान का गुणानुकीर्तन है, चौथा उपाय भक्ति और ज्ञानमूलक उपनिषदादि का पाठ और उनकी व्याख्या है। पांचवां उपाय कपट रहित श्री गुरु की ईश्वर बुद्धि से उपासना, छटा उपाय पुण्य कर्मादि का अनुष्ठान, पवित्र स्वभाव और यमनियम, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अष्टाङ्गयोग का अभ्यास, सातवां उपाय प्रति दिन

श्री गुरु अथवा श्री भगवान की मूर्तियों के पूजन में तत्परता और श्री भगवान की मंत्रोपासना तथा भगवद्भक्तों की सेवा, आठवां उपाय सब जीवों में ईश्वर भावना, बाह्यवस्तुओं से वैराग्य या वितृष्णा, मन का संयम और बाह्येन्द्रियों का निग्रह, नवां उपाय ब्रह्मतत्व निरूपण है। स्त्री पुरुष अथवा तिर्यग योनि गत भी कोई जीव यदि इन नवविध भक्ति साधनों से सम्पन्न होता है वह जिस किसी भी आश्रम में रहकर श्री भगवान में प्रेम भाव युक्त भक्ति प्राप्त करके ब्रह्मतत्व का निरुपण करने में समर्थ होता है और ब्रह्मतत्व निरूपण हो जाने पर तो इसी जन्म में मोक्ष लाभ कर सकता है। हे गुरुदेव! ये सब बातें शास्त्रों को पढ़कर पहिले से जानता था किन्तु पाप से चित्त मलीन रहने के कारण उनके अनुष्ठान में तीव्र प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती थी, परन्तु आप के कृपा कटाक्ष से उन सब के अनुष्ठान के लिए हृदय में प्रबल उत्कण्ठा हो उठी है। राजा संन्यासी से ऐसा कहकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा 'हे गुरु देव! आप आशीर्वाद दें जिससे गृहस्थ आश्रम में रहकर मैं निर्विघ्नता से राजर्षि जनकादि के सदृश समस्त साधनों द्वारा जीवन मुक्ति प्राप्त कर सकूं। इसके पश्चात् राजा ने अपनी राजधानी में लौटकर साधना में मन लगाया और राज्य के कार्यों को भी निपुणता के साथ चलाने लगा। संन्यासी ने भी अपनी रुढ़ी के अनुसार स्थानान्तर को गमन किया। परन्तु राजकुमारी संन्यासी की तलाश में व्यर्थमनोरथ होकर वन में पत्तों की कुटिया बनाकर महातपस्विनी शबरी के

सदृश अपने अभीष्ट पति संन्यासी को हृदय मंदिर में बसाकर आजीवन ध्यानमग्न हो गई। धन्य सती! सत का आश्रय लेकर जो रहती हैं वह ही वास्तविक सती है, तीनों कालों में जो एक समान रहे वह ही वास्तविक सत् और नित्य है। जिसको एक बार हृदय में पतिभाव से बसालिया और जिसके लिए देह मन और प्राण सर्वस्व अर्पण कर दिये, उसके बिना अन्य पुरुष को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में ग्रहण नहीं किया, एकमात्र अपने अभीष्ट पति को परम पुरुष श्री भगवान् से भिन्न न समझकर दिन प्रतिदिन तीनों समय एक समान प्रेम करती है और देह त्याग के अन्तिमक्षण तक उसी का ध्यान करती रहती है, वह ही सती है। इस तरह अपने पति को परमपति श्री भगवान से भिन्न न समझती हुई जो देह त्याग करती है वह देहान्त होने पर पतिलोक को चली जाती है, इसमें सन्देह नहीं। एक मनुष्य को छोड़कर दूसरे को पतिभाव से ग्रहण करके यदि मन ही मन भी व्यभिचार करती है तो वह देहान्त होने पर घोर नरक में गिरकर दारुण यातना भोगती है। जैसी थी सती सारिका वैसी ही थी सती राजकुमारिका।

३३—योगियों को योग द्वारा प्राप्त होनेवाली यावतीय जो सिद्धियां हैं वे सब सतियों को एक मात्र सतीत्व के प्रभाव से, करतलस्थ हो जाती हैं इसका दृष्टान्त अत्रि ऋषि की पत्नि अनसूया देवी हैं जिनके गर्भ से अवधूत भगवान श्री दत्तात्रेय ने जन्म ग्रहण किया था। अनसूया देवी की कथा इस प्रकार

है, उसके सतीत्व के प्रभाव से देवता पर्यन्त परास्त हुये थे, उनके चरित्र का कुछ वर्णन दिया जाता है। पतिव्रता मां बहिनें इस कथा को पढ़कर उसे कानों का भूषण बनाकर रखें।

एक वार नारद मुनि वैकुण्ठाधिपति श्री नारायण के दर्शन करने के लिये वैकुण्ठ पधारे वहां महेश्वर उमा सहित और ब्रह्मा भी ब्रह्माणी सहित उपस्थित थे। सृष्टि स्थिति और प्रलय कर्ता ब्रह्मा विष्णु महेश्वर तीनों को अपनी २ शक्तियों सहित एक स्थान पर उपस्थित देख कर नारद जी बड़े प्रसन्न हुवे और सब को दण्डवत् प्रणाम करके यथा योग्य संभाषण होने के पश्चात् किंचित् मुस्कराते हुवे पूछने लगे 'भगवन्तः! आप तीनों में जिस विषय का प्रसंग चल रहा था क्या मैं उसे जान सकता हूं?' तब सुदर्शन चक्र धारी विष्णु भगवान ने उत्तर दिया कि 'हम लोगों में सती के विषय पर वार्तालाप हो रहा था, सती की महिमा का वर्णन करने में किस का सामर्थ्य है। हम भी सती के सन्मुख सदा हार मानते हैं। नारायणी, ब्रह्माणी और महेश्वरी तीनों सतीत्व के उच्च शिखर पर स्थित हैं, ऐसी हमारी सम्मति होती है, उन में उमा महेश्वरी के सतीत्व की कथा तो त्रिभुवन विख्यात है ही, जिसने एक समय अपने पिता के मुख से पति की निन्दा सुन कर शरीर त्याग कर दिया था। इस विषय पर फिर श्री नारायण ने नारद से उनका मत पूछा। तब नारद ने मृदु मुस्कान सहित कहा कि मैं तो जो सत्य बात जानता हूं वह ही कहूंगा, परन्तु भय है कि कहीं जगज्जननियां मेरे ऊपर कुपित न हो जायें। यदि मातायें मुझ को अभय दान

दें तो निर्भय होकर मैं अपनी राय दूं। तब सबने नारद से कहा कि तुम जो बात सत्य जानते हो सो निर्भय और निः संकोच पूर्वक कहो नारद इस प्रकार अभय दान लेकर कहने लगे कि मुनि श्रेष्ठ अत्रि की कथा त्रिभुवन में ऐसा कोई नहीं है जो न जानता हो, उनकी पत्नी अनुसूया देवी के सदृश सती का दर्शन त्रिभुवन में मैं ने तो नहीं किया है। मेरा विश्वास है कि काय-मनो-वाक्य द्वारा ऐसी सती त्रिभुवन में आपको कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी। यदि मेरी बात को प्रमाणित करने के लिये दया पूर्वक एक बार उसके यहां पधारेंगे और परीक्षा करेंगे तो सब प्रत्यक्ष देखने में आ जायगा। नारद के वचन सुनकर स्त्रियों में श्रेष्ठ सती रत्न अनुसूया के दर्शन करने को उनके मन अत्यंत व्याकुल हो उठे। तीनों शक्तियां भी अपने २ पतियों से कहने लगीं कि आप शीघ्र जाकर देखें कि अनुसूया कैसी सती है। एक तो सती के दर्शन के लिये उनकी उत्कण्ठा थी, फिर उस पर देवियों का अनुरोध होने से ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों वहां गये और अपने २ रूप छिपा कर साधारण ब्राह्मणों का वेश धारण करके और किस प्रकार सती की परीक्षा करनी चाहिये यह निश्चय करके, आनन्द पूर्वक चित्रकूट पर्वत पर अत्रि मुनि के आश्रम को चले। समदर्शी और अहिंसा परायण ऋषि की तपो भूमि के आस पास जीव जन्तुओं में पारस्परिक प्रतिहिंसा का भाव नहीं था। सर्प मृग और व्याघ्रादि परस्पर मिल जुल कर आनन्द से खेल रहे थे। तपोवन का दृश्य अति मनोहर था। ताड़,तमाल, साल, नारियल, आम इत्यादि के नाना प्रकार के

वृक्ष फल फूलों से सुशोभित थे, जिन पर बैठ कर नाना प्रकार के पक्षि आनन्द गान कर रहे थे। ओस के कण पत्तों पर ऐसे जान पड़ते थे मानो विधाता ने वृक्षों के गले में मोतियों के हार पहिना दिये हों। उस ऐसे उत्कृष्ट आश्रम के समीप पहुंचने पर उनके कानोंमें साम गान का मधुर शब्द आने लगा और अनुमान होने लगा कि ऋषि प्रवर अत्रि मुनि का आश्रम यह ही है। तीनों उस आश्रम में उपस्थित होकर देखने लगे कि सूर्य सदृश तेज पुंज अत्रि मुनि हवनादि सम्पन्न करके बैठे हैं और उनके चारों ओर शिष्यगण, चन्द्र को तारागण के सदृश, घेरे बैठे हैं। दिव्य कान्ति युक्त छद्मवेशी तीनों ब्राह्मणों को आश्रममें प्रवेश करते देख अत्रि मुनि बड़े आदर सहित उठकर उनके स्वागत के लिए पाद्य अर्घादि द्वारा पूजन करके हाथ जोड़कर बोले, "आप सकुशल तो हैं ? आज मैं आप जैसे अतिथियों के दर्शन करके कृतार्थ हुआ हूं। आज मेरे हवन अग्निहोत्र आदि कर्म सफल हुये हैं और आश्रम पवित्र हुआ है।" अत्रि मुनि यद्यपि अपनी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मादि देवगण के छद्मवेश को समझने में समर्थ थे, तो भी उन्होंने इस बात को प्रकाशित नहीं किया। इसके पश्चात् मुनि ने विनय पूर्वक पूछा 'आप की सेवा के लिए किस प्रकार का भोजन बनवाया जायगा, आप की अनुमति पाकर मैं अपनी पत्नि को तदनुसार भोजन बनाने को कहूंगा, वैसा ही भोजन तय्यार हो जायगा।" किस प्रकार भोजन की तय्यारी होनी चाहिए, यह प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण रूपधारी श्री नारायण ने

कहा 'हे ऋषिवर! जननी अपने हाथ से भोजन बनावें और वे ही हमको भोजन करायें, परन्तु इसमें हमको आपसे कुछ अधिक अनुरोध करना है, आप हमारे साथ एकान्त में चलें तो वह कहा जाय।' ब्राह्मण के वचन सुनकर अत्रिमुनि उनके साथ एकान्त में गये, तब ब्राह्मण ने कहा कि यदि मां हमको नग्न होकर भोजन परोसेंगी तो हम भोजन करेंगे। और हमारी एक और इच्छा है कि मां दक्षिण हाथ में चांवल और जल रखकर हाथ की उष्णता से भात बनावें और उस अन्न को हमें खिलाकर वस्त्र पहिनें। हमारी यह इच्छा यदि आप पूर्ण करेंगे तो हम भोजन करेंगे, नहीं तो हम अन्यत्र जाते हैं।" ब्राह्मण की यह बात सुनकर मुनि अत्यन्त दुःखी हुवे और गहरी चिन्ता में पड़ गये। परन्तु करें क्या? यदि अतिथि बिना भोजन किए चले जाते हैं तो बड़ा पाप होता है, ऐसा विचार करते हुए अपनी पत्नि अनुसूया को बुलाकर, जो पाकशाला में भोजन बनाने में लगी थीं, कहने लगे 'प्रिये! आज बड़ी विपदा में पड़ा हूं, उस विपदा से उद्धार करनेवाली एकमात्र तुम ही हो, तुम ही आज मुझको इस विपदा में से निकालो। तब देवी पति के ऐसे वाक्य सुनकर बोली "प्रभो! आप जैसे तपस्वी को विपदा कहां? परन्तु न जाने क्यों आप से विपदा की बात सुनकर आज मन इतना व्यग्र हो गया है? कहिये, क्या विपदा है? आपके आशीर्वाद से विपदा निश्चय संपदा में परिणत हो जायगी।" देवी के वचन सुनकर मुनि ने कहा कि आश्रम में तीन अतिथि आये हैं, उनकी ऐसी

अद्भुत इच्छा है कि तुम्हारे सामने उसको व्यक्त करूं तो तुम्हारे मन में बड़ा दुःख होगा। यह सुनकर अनुसूया बोली 'प्रभो ! मैं तो आपकी दासी हूं। यह मेरा दुर्भाग्य है कि इतने दिन में भी आप मुझको नहीं पहिचान सके। यह देह और आत्मा सब आपके ही हैं। अपनी दासी से आप जो कुछ कहेंगे, उसमें भय अथवा संकोच आपको क्यों होना चाहिए। मैं समझती हूँ कि मेरी परीक्षा के लिए ही आप ऐसा कह रहे हैं। पति की कायमनोवाक्य द्वारा पाद सेवा करना ही और पति की आज्ञा का पालन करना ही पत्नि का प्रधान धर्म है। पत्नि तो पति की एकमात्र आधीन और आश्रित है। हे प्रभो! आप निर्भय होकर आज्ञा कीजिए, यह दासी प्राण देकर भी आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करके पालन करेगी।" मुनि ने कहा 'हे सती ! मैं तुम्हारे अन्तःकरण को अच्छी तरह जानता हूं तो भी अभ्यागत ब्राह्मणों की इच्छा कहते हुए मुझे लज्जा आती है।' यह सुनकर देवी फिर बोली "आपको लज्जा क्यों ! प्रभो ! मैं तो आपकी ही तो छाया हूं, आप ही मेरी गति हैं और आप ही इस दासी के एकमात्र कर्ता हैं। आपने श्री चरणों में जो मुझको दासी ग्रहण करके स्थान दिया है, उसी से मैं धन्य हूं। आपके श्री चरणों में मेरी सदा भक्ति बनी रहे और आपके आदेश पालन में मैं सदा तत्पर रहूं, यह आशीर्वाद दें।" देवी के वचनों से मुनि ने आश्वासन पाकर अभ्यागत ब्राह्मणों की मनोभिलाषा व्यक्त की। मुनि की बात से देवी कुछ विस्मित होकर कहने लगी 'ऐसे साधारण कार्य के लिए इतना

भय और इतनी लज्जा ! आपके श्री चरण कमलों की कृपा से अतिथियों की इच्छा पूर्ण होगी। रसोई होने पर आपको सूचना दूँगी। यह सुनकर ऋषिप्रवर ने तुरन्त अतिथियों के पास जाकर विनय की कि आपका भोजन यहां ही होगा और आपकी आज्ञा के अनुसार देवी आपकी इच्छा पूर्ण करेंगी। यह सुन कर अतिथि ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगे कि आज हम मां के हाथ का बना हुआ प्रसाद पाकर तृप्त होंगे। इसके पश्चात् भोजन बनने पर्यन्त समय को वे सद्वार्तालाप में व्यतीत करने लगे। इधर अनुसूया देवी ने चारों प्रकार के चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय नाना प्रकार के पदार्थ बना कर भोजनागार धोकर अपने स्वामी और अतिथियों के लिये अलग २ पात्रों में भोजन के पदार्थ परोसे, फिर मुनि के पास खबर भेजी कि सब तय्यारी हो गई है, अतिथियों को लेकर शीघ्र आ जावें। इधर लज्जा के निवारण के लिये सतियों की एक मात्र गति और सतियों के एक मात्र प्राण श्री भगवत्स्वरूप अपने पति का हृदय में ध्यान करने लगी, इतनी देर में अत्रि मुनि ने अतिथियों के संग प्रसन्नता पूर्वक अंतःपुर में प्रवेश किया। अतिथियों ने मुनि के साथ अंतःपुर में प्रवेश करके देखा कि भोजन के पदार्थ यथाविधि लगे हुये हैं और साक्षात् लक्ष्मी का रूप अनुसूया देवी जलपात्र हाथ में लिये खड़ी है। ब्राह्मणगण अनुसूया के शरीर से कांचन के सदृश ज्योति का तेज निकलता देख चकित होकर मन ही मन कहने लगे—धन्य सतीत्व का तेज। यदि वह वास्तव में सती

न होती तो क्या इस प्रकार उसके शरीर से ज्योति निकलती ? सात्विक आहारों को देख कर उनके बनने की नाना प्रकार की सुगंध से ब्राह्मण रूप धारी ब्रह्मादिक देव अत्यंत प्रफुल्लित होकर अत्रि मुनि और उसकी पत्नि की भक्ति की मन ही मन प्रशंसा करने लगे। इधर अनुसूया देवी अपने पति के साथ अतिथियों को घर में प्रवेश करते देख अतिथियों के हाथ पांव और मुख प्रक्षालन के लिये जल ले आईं और भूमि पर दण्डवत प्रणाम करके, हाथ जोड़ कर भक्तिपूर्वक मधुर स्वर से कहने लगी, हे विप्रश्रेष्ठ! मैं एक साधारण स्त्री हूँ और अपने ब्रह्मज्ञ पति के आशीर्वाद से आपकी इच्छा पूर्ण करूंगी परन्तु आपके श्रीचरणों में एक निवेदन है कि आपके प्रत्येक के अंग पर एक २ अञ्जलि जल छिड़कूंगी। देवी की इस बात को ब्राह्मण रूपी देवगण ने अनुमति दे दी उनकी अनुमति पाकर अनुसूया देवी ने हाथ में जल लेकर कहा 'यदि मैं सती हूँ और एक पति के सिवाय अन्य पुरुष को यदि जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में हृदय में स्थान नहीं दिया है, न कभी ध्यान किया है, तो हे ब्राह्मणगण! मेरे इस जल के आपके शरीर पर स्पर्शमात्र से आप शिशु रूप धारण करलें।' ऐसा कह कर हाथ का जल अतिथियों के अंग पर छिड़कने मात्रसे ब्राह्मण रूपी देवगण शिशु बन गये। उसके पश्चात् अनुसूया देवी ने कुछ क्षण हृदय में पतिका ध्यान करके मातृभाव से अंग पर से वस्त्र उतार कर और हाथ में जल और चांवल रख कर सतियोंकी एक मात्र परमगति परमाश्रय और विपदभंजन पतिदेव के चरणों का ध्यान करने लगी और हाथ

की गरमी से चांवल पका कर ब्राह्मणों के सामने परोस कर उसने वस्त्र धारण किये। इधर देवगण शिशु रूप धारण करके बड़े सन्तोष से भोजन करने लगे और अनुसूया देवी को मां मानकर बालकों के समान बैठे रहे और उधर प्राकृतिक मातृ-भाव और पुत्र भाव उत्पन्न हो गया और माता के निकट जैसे संतान रहती हैं वैसे ही देवगण दिव्य कान्तियुक्त शिशुरूप से अनुसूया देवी को अपनी २ मां समझ कर आनन्द से उसके पास रहने लगे। अनुसूया देवी भी वात्सल्य स्नेह से भावान्वित होकर परम आनन्द के साथ उनका पालन करने लगीं। शिशु-देह की प्राप्ति के साथ २ उनको अपनी २ शक्ति ब्रह्माणी, वैष्णवी और उमा की विस्मृति हो गई। इसी तरह कुछ दिन व्यतीत होने पर तीनों देवियां अपने २ पति के विरह से कातर और चिन्तित होकर अपने २ पति की खोज में अत्रि मुनि के आश्रम में आईं। आश्रम में प्रवेश करने पर अनुसूया देवी को देखकर उन्होंने अपने २ पति के बारे में पूछा और पति विरह की व्यथा उस पर प्रकट की।

अनुसूया देवी भक्ति पूर्वक उनको प्रणाम करके जहां देवगण शिशुरूप में खेल रहे थे हंसती २ ले गई और तीनों बालकों को दिखा कर बोली 'माताओ! ये आपके पति शिशु रूप में खेल रहे हैं, जिसका जो पति हो उसको आप पहिचान लें। देवियां अपने २ पतियों को न पहिचान सकीं और एक दूसरी का मुख ताकने लगीं। तब उमा भवानी ने अनुसूया से कहा 'हे देवि! आपके सतीत्व की कीर्ति त्रिभुवन में बहुत काल से प्रसिद्ध है।

देखो, हमारे ही अंश से तुम्हारा जन्म हुआ है, इस लिये
तुम यह अपूर्व कार्य साधन कर सकी हो। हमारे आशीर्वाद
तुम्हारा मंगल होगा, तुम कृपा पूर्वक हमको हमारे पति प्रदा
करके हमारे संतप्त हृदयों को शीतल करो । हमने इतने दि
पति विरह से किस प्रकार प्राण रक्षा की है वह तुम्हारे जैसं
सती आसानी से समझ सकती है। देवियों के कातर अनुरो
से अनुसूया ने फिर हाथ में पानी लेकर पति के चरणों क
ध्यान करके कहा 'यदि मैं सती हूँ, पति के सिवाय किसी दूसर
पुरुष का कभी ध्यान भी नहीं किया है, पति को यदि मनुष्य
समझ कर साक्षात् देव रूप मान कर उनकी पूजा की है, मनसा
वाचा कर्मणा यदि कभी भी पति को कष्ट नहीं पहुंचाया है और
पति की आज्ञा संतुष्ट चित्त से पालन की है तो ये देवगण इस
जल के स्पर्श से तत्क्षण अपना २ रूप धारण करलें ।' ऐसा
कह कर शिशुओं के अंग पर जल मार्जन करने पर तीनों बालकों
ने अपने २ पूर्व देह धारण कर लिये और सतीत्व के तेज
सामने देवताओं की शक्ति पराजित हुई। यह देख कर देवताओं
ने लज्जित होकर कहा 'मां! आपकी भक्ति और व्यवहार
हम अति प्रसन्न हैं, त्रिलोक में ऐसा कोई कार्य नहीं जो तुम
अपने सतीत्व के प्रभाव से न सिद्ध कर सको । योगियों को
प्राप्त होने वाली सब सिद्धियां तुम्हारे करतल में हैं। तथापि जो
आपने हमारे दर्शन किये हैं और हमारी सेवा की है उसके फल
स्वरूप हम आपको वरदान देते हैं, अपनी इच्छानुसार व
मांग लें। देवताओं की बात सुन कर अनुसूया देवी ने कहा

'भगवन्तः! कृपा पूर्वक यह वरदान दें कि यदि आपकी इच्छा हो तो आप तीनों देव मेरे गर्भ से जन्म ग्रहण करके मेरे पुत्र बन कर मेरा उद्धार करें, यह ही वर मांगती हूँ।' देव गण तथास्तु कह कर सानन्द अपनी २ शक्तियों के साथ अपने २ स्थानों को चले गये। कुछ दिन पश्चात् ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीनों ने एकत्र अनुसूया देवी के गर्भ में जन्म ग्रहण किया। तीनों देवताओं का वर प्रदत्त अत्रि ऋषि को यह पुत्र हुआ, इस लिये उसका नाम दत्तात्रेय रखा गया। धन्य अनुसूया देवी! जिसके सतीत्व के प्रभाव से ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों पराभूत हुये। यदि वह ऐसी सती न होती तो क्या संसार के सृष्टि स्थिति संहार कर्ता स्वयं उसके गर्भ से जन्म लेते।

३४—मोहांध मनुष्यों को क्या साधना करनी चाहिये? एक मात्र उस हरि नाम का आश्रय लेना चाहिये। मोहांध न तो ज्ञान का अधिकारी है न योग का। जिसको सांसारिक विषयों से वितृष्णा उत्पन्न हो गई है. शास्त्र विधिवत् कर्म और योगाङ्गों के अनुष्ठान द्वारा जिनका चित्त निर्मल हो गया है, वे ही ज्ञान के अधिकारी हैं। मोहांध मनुष्य के प्राण तो अनित्य भोग सुखों में ही बसे रहते हैं, उसको विषय वितृष्णा कहाँ? वह प्राणायामादि योग के अनुष्ठान द्वारा योग प्राप्ति करने का भी अधिकारी नहीं है क्योंकि न तो उससे आहार का नियम होता है न विहार का नियम, संयम रक्षा किंचित् भी नहीं कर सकता। जो योगाभ्यास करना चाहते हैं, उनको योगियों के मतानुसार जब तक योग की सिद्धि नहीं होती, नियम पूर्वक आहार विहार

और ब्रह्मचर्य का पालन करते ही रहना चाहिये। नहीं तो उसके विपरीति होने से दुःख मात्र की प्राप्ति होती है। इसलिये जैसे अंधे को लाठी पथ प्रदर्शक का काम देती है वैसे ही मोहांध मनुष्य को एक हरि नाम ही पंथ प्रदर्शक होता है। वह हरि नाम का भक्ति भाव से आश्रय लेकर साधन में लगा रहे तो एक मात्र नाम की शक्ति के बल से अपने जीवन की गति को बदल कर श्री भगवानका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। नारद पुराण में लिखा है कि 'विषयान्ध और ममता कुल चित्त वाले मनुष्यों को सब पापों से एक मात्र हरिनाम ही मुक्त करता है। सर्वथा पाप हरण करने में एक हरि नाम की इतनी शक्ति है कि मनुष्य की क्या शक्ति है जो वह उतने पाप करने में समर्थ हो। सत्य युग में तप, त्रेता में ज्ञान और द्वापर में यज्ञादि द्वारा जो फल मिलता था उसे एक मात्र हरि नाम से ही कलियुग के मोहांध मनुष्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। एक नाम की शक्ति के बल से स्वतः भक्ति, भाव, प्रेम, वैराग्य और ज्ञानादि हृदय में विकसित हो उठते हैं। नाम जपते २ ज्यों २ पापों का ध्वंस होता जाता है त्यों २ नाना प्रकारके भावों का शरीर और मन में स्फुरण होने लगता है और प्राणायामादि भी स्वतः होने लगते हैं। ख्याल रखो कि हरि का मधुर नाम ही मोहांध मनुष्यों के लिये लाठी सदृश एक ही अवलंबन है। इस लिये हरिनाम का दृढ़ता पूर्वक अवलंबन ग्रहण करना चाहिये।

३५—ईश्वर साकार है अथवा निराकार ? हमने यह प्रश्न

एक दिन किसी महात्मा से किया, तो वे कहने लगे कि 'देखो ! हमने एक दिन सुना कि रमना के खेत में एक सोने का आदमी आया है और उस आदमी के दर्शन करने वहुत लोग जाते हैं। यह सुनकर उसको देखने के लिये हमारे मन में भी उत्कण्ठा हुई और भिक्षादि (भोजन) से निवृत्त हो कर उसे देखने चल पड़े परन्तु कुछ दूर जाने पर देखा कि कोई उस सोने के मनुष्य का हाथ, कोई अंगुली, कोई पैर, कोई कान, कोई आंख, कोई नाक, कोई नख, कोई चर्म, कोई अस्थि, कोई बाल, कोई लोम इत्यादि लिये आरहे हैं हम जब उस खेत में पहुंचे तो देखा कुछ भी नहीं है। इतना कहकर वे चुप होगये। तुम कहोगे इस कहानी का भाव कुछ समझ नहीं पड़ता। इस कहनी में ईश्वर साकार है अथवा निराकर,इस प्रश्नका उत्तर छुपाहै। देखो जैसे सोनेका मनुष्य नहीं होता.वह तो मिथ्या है उसी प्रकार ईश्वर भी किसी दृश्यमान वस्तु के सदृश साकार नहीं है, ईश्वर का साकारत्व भी उसी प्रकार मिथ्या है, जो वस्तु साकार होती है उसके अवयव होते हैं वह वस्तु नाशवान होती है। जिसके अवयव नहीं, निरवयव है वह नित्य तुरीय चैतन्य रूप सदा निराकार है। जब तक मनुष्य में अज्ञानता है, इस अनित्य देह इन्द्रियादि को आत्मा समझता है, तब तक वह अपने प्राणों के प्रभु आराध्य ईश्वर को भी देह-धारी साकारवत् समझता है, साकार कहता है, साकार मानता है और उसी की उपासना करता है। उपासना से चित्त निर्मल हो जाने पर, बहिर्मुख चित्त अन्त र्मुखी होने पर विवेक ज्ञान प्राप्ति द्वारा नेति २ अर्थात् यह हाथ है, यह पांव है यह आँख,

कान, नाक, मुख, अस्थि, चर्म, केश, लोम, इन्द्रियाँ, प्राण, बुद्धि कोई भी आत्मा नहीं, इस प्रकार विचार द्वारा निज आत्मस्वरूप से भिन्न और कुछ नहीं देखता, और निज आत्मस्वरूप से भिन्न किसी अन्य भाव को नहीं देखता। इस लिये ऐसा बोध होने पर वाणी सहित मन स्वतः निवर्तित होकर चुप हो जाता है। ईश्वर स्वयं अपने वशीभूत माया के द्वारा इस नाम रूप, की सृष्टि करके जीवात्मा के रूप से इस देह में प्रविष्ट हुये हैं। जब तक जीव को अज्ञान या माया है तब तक वह साकार है और अज्ञान अथवा माया के नाश होने पर वह ही निराकार है। वह निराकार होते हुये भी साकार के सदृश प्रतीत होता है, इसलिये यह उसकी माया का कार्य है। स्वच्छ स्फटिक में जवाकुसुम का लालरंग आरोपित होने पर जिस तरह स्फटिक की स्वच्छता उस अवस्था में भी दूर नहीं होती केवल मूर्खों को स्फटिक का असली स्वरूप नहीं जान पड़ता और स्फटिक को लाल कहते हैं, उसी प्रकार मायाविशिष्ट ईश्वर अपनी माया द्वारा साकारवत प्रतीत होकर भी अपनी निराकार नित्य चैतन्य स्वरूपता में सदा बना रहता है। उसका असली निराकार स्वरूप मूर्खों को अगम्य हैं वे उसको नहीं जान पाते, इसलिए समझते हैं कि वह साकार है। देखो, जैसे नाट्यशाला में नाटक करने के लिए हमारे ही भाई राम और श्याम, राजा रानी के वेश में मंच पर आते हैं, राम और श्याम के भाव से अविकृत रहते हुए भी राजा रानी का खेल खेलते हैं, ईश्वर भी उसी तरह अपने स्वरूप में अविकृत भाव से रहते हुए भी संसार लीला

करते हैं। जब तक उसकी माया है और वह जीव पर अपना प्रभाव फैलाये रहती है तब तक उसके रचे हुये सब ही रूप सत्यवत् भासते हैं।

तुम अपने निजी स्वरूप पर विचार करके देखो, कि तुम साकार हो या निराकार। जब तक तुम्हारा मन काम करता रहता है तब तक तुम्हारा साकार भाव है और जब मन निष्क्रिय हो जाता हैं तब तुम्हारा निराकार भाव हो जाता है। तुम्हारे मन की जागृत और स्वप्नावस्थायें तुम्हारा साकार भाव हैं, सुषुप्ति में निराकार भाव होता है। जैसे साकार और निराकार तुम्हारे मन की दो अवस्थायें हैं तुम जैसे के तैसे बने रहते हो अर्थात् तुम्हारे स्वरूप में तुम सदा ही अवस्थित हो इसी तरह साकार और निराकार माया की दो अवस्थायें हैं। नहीं तो नित्य अखण्ड चैतन्य स्वरूप में साकारता और निराकता कहां हैं? वह साकार भी नहीं है निराकार भी नहीं है और वह साकार भी दीखता है और निराकार भी दिखता है। जो उसे इस भाव से देखता है, वह ही असली भक्त और और असली ज्ञानी है।

३६—जिस तर्क वितर्क से परमार्थिक सत्ता अर्थात् ज्ञान नहीं निकलता और जिससे क्रोध उत्पन्न होता है और पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होता है वह तर्क नहीं वरन् कुतर्क है। ऐसा कुतर्क भक्ति और ज्ञान प्राप्ति का विरोधी होता है। साधकों के लिए ऐसे कुतर्क से मन में विक्षेप उत्पन्न करना किसी के मत से भी सतसंग नहीं कहलाता। अभिमान

भी मनुष्य की कुतर्क में प्रवृत्ति करता है। हम सब की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं हम विद्या बुद्धि में सब की अपेक्षा उत्तम हैं और जो हमारा सिद्धान्त है वह ही ठीक है, ऐसी जिसकी बुद्धि है उसको अभिमानी कहते हैं। ऐसे अभिमानी को दंभ दर्प और क्रोध इत्यादि सदा ही घेरे रहते हैं, इसलिये साधक को अभिमान का सदा त्याग करना चाहिये। हम भगवान के भक्त हैं और हम उसके सेवक हैं ऐसा अभिमान बुरा नहीं वरन अच्छा ही होता है।

३७—साधकों को ग्राम्य कथायें और व्यर्थ विषयों पर वार्तालाप करने का और पर निन्दा और पराई चरचा इत्यादि का त्याग करना चाहिये, और उनको ऐसी बातें सुनना भी उचित नहीं। ग्राम्य कथाओं से मन अत्यन्त कलुषित होता है। जो दूसरों की निन्दा करता है, वह उसके पाप ग्रहण करता है और अपने पुण्य जिसकी निन्दा करता है उसको दे देता है।

३८ - किसी विषय पर बिना प्रश्न किसी को उत्तर नहीं देना चाहिये। यदि कोई न्याय विरुद्ध प्रश्न करे तो उत्तर न देकर मौन धारण कर लेना चाहिये। किसी २ का ऐसा स्वभाव होता है कि बिना प्रश्न, आपस में दो व्यक्तियों में वार्तालाप होते देख बीच में उनको अपना पाण्डित्य दिखाने के लिये अथवा बुद्धिमत्ता प्रकट करने के लिये अपने आप कुछ न कुछ कहने लगते हैं। यह उन लोगों के चरित्र में बड़ा दोष है। हम इस प्रकार अपनी बुद्धि दिखाकर अभिमान का परिचय देते हैं।

३९—माता पिता भाई बन्धु और समाज का त्याग करके

श्री भगवान का साक्षात्कार करने के लिये जिन लोगोंने जीवन उत्सर्ग किया है. उनको लौकिक सभ्यता का ख्याल रखने से उनके साधन भजन में विघ्न और साथ ही मानसिक तेज की हानि होती है। संसार तुमको साधु और महापुरुष कहे इस लिये तो तुमने संसार का त्याग नहीं किया। श्री भगवद्दर्शन और आत्मानन्द का अनुभव ही तो तुम्हारा उद्देश्य है लोगों के साथ अधिक वार्तालाप न करने से और घनिष्ट संबंध न जोड़ने से यदि वे तुमको दांभिक अथवा और कुछ कहें तो तुम को क्या? तुम नित्य मुक्त ज्ञान स्वरूप आत्मा हो, इस विचार में मग्न रहने से सदा निर्मल चित्त रहोगे। हमारा विश्वास है कि तुम को जो मनुष्य हृदय से प्रेम करेगा वह तुम्हारे बहि दोषों को कभी नहीं देखेगा। यदि देखता है तो देखने दो, तुम को क्या? जिस बात से तुम्हारे चित्त में निर्मल आनन्द को आघात पहुंचता है उसको कभी मन में संकोच के वश पोषण मत करो। मन में स्वाधीनता से शक्ति बढ़ती है। बहुत से मनुष्य दूसरों के मन को कष्ट पहुंचाने की बात कहते हैं अथवा दूसरों के साथ उद्धतपने का व्यवहार करते हैं और समझते हैं कि हम बड़े स्वाधीन हैं। परन्तु राग द्वेष के आधीन जो हैं उनको स्वाधीन कौन कहेगा, वे तो बड़े पराधीन हैं। काम क्रोधादि के वश जो नहीं हैं वे ही वास्तविक स्वाधीन हैं। 'अमुक व्यक्ति के हम से असंतुष्ट होने पर हमारी यह क्षति होगी', ऐसे भाव स्वाधीन मनुष्य कभी मन में नहीं लाता। ऐसे विचार भगवद्विमुख भोगियों को ही शोभा देते हैं। भगवत भक्त जानता है कि श्री भगवान को ही प्रसन्न

करना उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। मोहांध मनुष्य को प्रसन्न करना किसी मनुष्य के वश की बात नहीं। सब की देहमें जो जीव रूप से विद्यमान है उस भगवान को प्रसन्न कर लेने से सब ही प्रसन्न हो जाते हैं। जैसे छोटे २ जलाशयों अर्थात् कुआं तड़ागादि से जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं, बड़े जलाशय से भी वे संपादित किये जा सकते हैं क्योंकि छोटे जलाशय बड़े जलाशय के ही अंश रूप हैं, वैसे ही जीव ईश्वरके अन्तर्गत होनेसे ईश्वर अंश है, इसलिये एक ईश्वर को भक्ति प्रेमादि द्वारा प्रसन्न कर लेने से सब मनुष्य उसके प्रति प्रेम करने लगते हैं।

४०—जो साधक हैं वे योगक्षेम के लिये, अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये कभी चिन्ता नहीं करते। जो विश्व के नियन्ता की उपासना करता है उसको किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। साधक का प्रयोजन तो शरीर रक्षणार्थ उदर पूर्ति करना है, और जितने में उसकी भली प्रकार लज्जा दूर हो और जब तक द्वंद सहिष्णुता न आवे तब तक लज्जा और शीत निवारण के लिये जो सन्मान्य वस्त्र मिल जाय उस ही में सन्तुष्ट रहना है। संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को तो एक कोपीन और अंग पर ओढ़ने को एक वस्त्र ही बहुत है। माता के गर्भ से बाहिर आने के पूर्व जिसने माता के स्तनों में दूध का संचार कर रखा था और जो असंख्य प्राणियों को दिन प्रति दिन आहार देता है, वह क्या साधकों की जीविका निर्वाह के लिये एक मुठ्ठी अन्न का प्रबन्ध नहीं करेंगे या अब तक नहीं किया है? निश्चय ही करेंगे। श्री भगवान के वाक्य मिथ्या नहीं

हैं उन्होंने कहा है 'अनन्य चित्त से,अर्थात् मैं वासुदेव ही तुम्हारी आत्मा हूं मैं ही तुम्हारा एक मात्र आश्रय और गति हूँ, इस प्रकार अनन्य चित्त होकर, जो साधक उपासना करते हैं वे मेरी ही आत्मा हैं, सदा मुझ में ही युक्त रहते हैं, उन नित्य युक्त साधकों का योग क्षेम का भार मैं अपने ऊपर लेता हूं।" परम पिता परमेश्वर के प्रति जिसकी दृष्टि और निर्भरता नहीं है वे मूर्ख ही सोचा करते हैं कि अमुक मनुष्य हम को खाने को देता है और अमुक मनुष्य ने हमको खाने को नहीं दिया, हम क्या उपाय करें, इत्यादि वृथा चिन्ता कर २ के शरीर और मन को बिगाड़ते हैं। भक्त जन भोजन और अच्छादन के लिये चिन्ता नहीं करते। वे जानते हैं कि श्रीभगवान उनकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकते।

४१—संसार में एक दूसरे के प्रति जो प्रेम करता है, उसका क्या कारण है ? उसका कारण है भोग सुख की आशा। सुख प्राप्ति के लिये मनुष्य स्त्री को प्रेम करता है, पुत्र को लिखा पढ़ा कर शिक्षा देने की चेष्टा करता है और लोक समाज में पारस्परिक सहानुभूति का प्रदर्शन करता है और एक दूसरे का आदर सत्कार करता है। मोहांध मनुष्य निष्काम भाव से विवेक बुद्धि द्वारा कर्म नहीं कर सकता, इस लिये सदा ही आशा की पूर्ति नहीं होते देख दुःख पाते हुये भी, आशा का त्याग नहीं कर सकता। क्षणिक सुख की आशा से पति पत्नि से प्रेम करता है, ज्यों ही स्त्री मर जाती है दो चार दिन शोक मना कर एक वर्ष बीतते न बीतते दूसरी स्त्री का फिर पाणिग्रहण करने का यत्न

करने लगता है। जितना उसका प्रेम पहिली स्त्री में था वह सब जल पर खैंची हुई रेखा के सदृश न जाने कहां चला गया। बहुत से लोग एक स्त्री से प्रेम न रहने पर उस का त्याग करके दूसरी के साथ विवाह कर लेते हैं। जितना प्रेम स्त्री से वह करता है इन्द्रिय भोग के लिये करता है। आधुनिक युग में स्त्रियां भी थोड़ा बहुत जो आदर प्रेम पति से करती हैं वह केवल अपने इन्द्रिय सुख के लिये अथवा भोजन वसन के लिये करती हैं, नहीं तो वास्तविक पति भक्ति और पतिव्रत धर्म का अभाव ही दिख पड़ता है। स्त्री संपूर्णतया पति के आधीन होकर भी अपने पति को अपनी मुट्ठी में रखना चाहती हैं और अपनी इच्छानुसार नचाना चाहती है। अन्यथा यदि पति उसके कहने के अनुसार कोई अनुचित कार्य भी न करे तब तो वर्षा कालीन समुद्र के सदृश उसका गरजना आरम्भ हो जाता है। विवाह का उद्देश्य क्या है उसको कामांध मनुष्य "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" अर्थात् हे भरत-र्षभ अर्जुन! धर्म का अविरोधी काम मैं हूं" अर्जुन के प्रति कहे हुये श्री भगवान के इस वचन को मोह के वश भूल कर "कामाविरुद्धो भूतेषु धर्मोऽस्मि भरतर्षभ, अर्थात् काम का अविरोधी धर्म मैं हूं" ऐसा मान कर अधर्म को धर्म की तरह ग्रहण करके कामार्त होते हैं और दारुण दुःख भोगते हैं। पुत्र को जब ही पढ़ाने लिखाने बैठाया कि वह काल का ग्रास बन गया, उसका दुःख और रोना पीटना कुछ समय तक चला, कुछ समय पश्चात् फिर पुत्र होने की आशा मन में प्रबल रूप से जाग उठती है, यदि पुत्र लिख पढ़ कर शिक्षित

हुआ और धन उपार्जन करने का साधन करने लगा, परन्तु माता पिता की यथा रीति सेवा न कर सका, तब भी दारुण यातना भोगनी पड़ती है, क्योंकि आशा बंधी हुई थी कि लड़का बड़ा होकर धन कमाकर हमारी सेवा करेगा और सुख देगा। यदि पुत्र द्वारा यह आशा पूर्ण नहीं होती तो मनुष्य दुःख और मानसिक व्यथा से चंचल होता है। बहुत जगह ऐसा भी देखा गया है कि पुत्र भी माता पिता की सेवा करता है परन्तु वह भी इस आशा से स्वार्थ वश करता है कि हमको इनसे धन की प्राप्ति होगी। यदि माता पिता से इच्छानुकूल धन नहीं मिलता अथवा इच्छानुकूल कोई वस्तु नहीं मिलती तब तो माता पिता पर क्रोधाग्नि से भड़क उठता है। एक पड़ोसी अपने पड़ोसी का भला करता है, खाने को देता है अथवा अन्य सहायता करता है और यदि वह उसके झूठे मुकद्दमे में साक्षी देने से इन्कार कर देता है तो वह किसी न किसी बहाने से उस पर बिगड़कर नाना प्रकार से लड़ाई झगड़ा आरम्भ कर देता है। इस प्रकार अनेक विषयों पर विचार करके देखा जाय तो साधारणतया एक का दूसरे के प्रति पारस्परिक आकर्षण केवल स्वार्थ सुख के लिये ही होता है। यदि उसमें सुख की आशा सूक्ष्म भाव से छुपी न होती तो सुख के न मिलने पर दुःख क्यों उपस्थित होना चाहिये था? स्त्री मर गई, पुत्र मर गया, और इसी प्रकार संसार में आकर्षण करने वाले कितने पदार्थ नष्ट होगये, यह देख सुन कर भी इस दुःखदायक आकर्षण का हेतु क्या है और उसके दुःखों के कारण की किस प्रकार निवृत्ति हो सकती है, इसका

विचार एक वार भी मन में नहीं आता।

४२—साधकों को भिक्षा करके आजीविका निर्वाह करना अच्छा है, परन्तु किसी से धन की प्रार्थना करनी उचित नहीं। प्रार्थना करनी है तो लक्ष्मी पति सर्वज्ञ. सर्व शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी. परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये। जो स्वयं भिक्षुक है उससे भीख मांगना कौन पसन्द करेगा। जिसको स्वयं अभाव है और सदा धन के लिये प्रार्थना करता है वह ही तो दरिद्री और भिक्षुक है। इस विषय पर एक सुन्दर कथा कहते हैं। एक बार एक संन्यासी ने साधुओं को भण्डारा देने का विचार किया। भण्डारे के लिये धन चाहिये, धन के विना बनिया आटा, घी, दाल इत्यादि देता नहीं, इस लिये राजा के पास जाकर धन की याचना करनी चाहिये, यह निश्चय करके वह राजा के पास गया राजा के यहां संन्यासियों के लिये सदा द्वार खुला रहने के कारण वह संन्यासी सीधा राजा के निकट जा उपस्थित हुआ और देखा कि राजा संन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्म में बैठे हैं। कुछ समय इन्तजार कर लो ऐसा सोच कर वह वहां खड़ा रहा, जब राजा अपने नित्य कर्मों को समाप्त करके हाथ जोड़ कर श्री भगवान से प्रार्थना करने लगा 'धनं देहि. पुत्रं देहि, यशं देहि इत्यादि,' तब संन्यासी 'धन देहि' सुन कर सोचने लागा, कि जिसको धन का अभाव होता है वह ही तो धन के लिये प्रार्थना करता है। राजा को यदि धन का अभाव न होता, तो आज धन के लिये प्रार्थना क्यों करता। अभाव ग्रस्त के पास अर्थ याचना करने की आवश्यकता नहीं। सकल

धन के अधिपति श्री भगवान से यह राजा धन की प्रार्थना कर रहा है, बस जिस परमेश्वर के लिये मैंने सर्वस्व परित्याग कर रखा है उस ही से प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा निश्चय करके संन्यासी ज्यों ही उस स्थान से वापिस होने लगा, उस ही समय राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा ने संन्यासी के आगमन और वापिस लौट जाने का कारण जानने के लिये उत्सुक होकर उसको बुलाने के लिये आवाज दी। राजा का शब्द सुन कर संन्यासी के फिर राजा के समीप आने पर राजा ने उनके शुभागमन का कारण पूछा और आकर फिर क्यों लौट चले यह जानने की इच्छा प्रकट की। तब संन्यासी ने कहा 'राजन्! भण्डारा करके साधुओं को भोजन देंगे, यह संकल्प करके धन की इच्छा से आपके पास आया था, परन्तु आपको भी विश्व-नियन्ता से धन की प्रार्थना करते देख कर ज्ञात हुआ कि आप के पास भी धन का अभाव है। इस लिये जिससे आप धन की प्रार्थना करते हैं, उससे हम भी धन मांग लेंगे, ऐसा निश्चय करके वापिस लौट रहा था। हे राजन्! जिसको स्वयं धन का अभाव है वह दूसरे के धन के अभाव की कैसे निवृत्ति कर सकता है? संन्यासी की बात सुन कर विचारवान राजा ने अत्यन्त संतुष्ट होकर उसकी आवश्यकता के अनुसार स्वतः प्रवृत्त होकर धनादिका दान दिया। फिर राजा संन्यासीके चरणों में पड़कर कहने लगा 'भगवन्! आज आप जैसे महान् पुरुषके शुभ आगमन से राजधानी पवित्र हुई और मेरा यह जीवन सार्थक हुआ। और मुझको आज विशेष ज्ञानका लाभ हुआ।

४३—साधक के पास यदि बिना मांगे द्रव्य आ जाय, तब ही उसको ग्रहण करना चाहिये और अपने शरीर की रक्षा के लिये जितने का प्रयोजन हो उतना रख कर शेष से आवश्यकतानुसार अन्य किसी अभाव ग्रस्त साधक की सहायता करनी चाहिये।

४४—जिह्वा और उपस्थ का सदा संयम रखना चाहिये। जिह्वा और उपस्थ के विषयों में ही तो सारा संसार है। जो जिह्वा और उपस्थ का संयम करने में समर्थ है उसको फिर संसार की क्या आवश्यकता? जिह्वा और उपस्थ का संयमी इस संसार में वास्तविक वीर है। वृक्ष की जड़ में जल सींचते रहने से वृक्ष की जैसे वृद्धि होती है उसी तरह जिह्वा के संयम न रखने से स्वेच्छा पूर्वक राजसिक और तामसिक आहार सेवन करने पर काम का वेग बढ़ता है। केवल भोगियों के लिये राजसिक आहारों का विधान है। साधकों को राजसिक और तामसिक आहारों का अर्थात् जिन आहारों से रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होती है, त्याग करके सात्विक भोजन करना चाहिये। सात्विक आहार करने का अर्थ यह भी है कि अपरिमित आहार कभी नहीं करना चाहिये। सात्विक आहार भी यदि अपरिमित रूप में किया गया तो वह भी तमोगुणी आहार के सदृश कार्य करेगा। इसलिये साधकों को परिमित आहार के प्रति सदा विशेष ध्यान रखना चाहिये। जिस मनुष्य की प्रकृति जिस गुण युक्त होती है उसे तद्गुण विशिष्ट भोजन ही प्रिय लगता है। सत्वगुणी सात्विक, रजोगुणी राजसिक और तमो-

गुणी तामसिक आहार पसन्द करता है। जो जिस गुण युक्त आहार का सेवन करता है उसका मन भी उस २ गुण से युक्त हो जाता है अर्थात् सात्विक आहार से मन में सत्व वृद्धि राजसिक आहार से रजोगुण की वृद्धि और तामसिक आहार से मन में तमोगुण की वृद्धि होती है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि मन अन्नमय है। मन में सत्ववृद्धि होने से मन की विषय प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है, मनकी अन्तर्मुखी गति होती है ज्ञान के प्रकाश और आनन्द की उपलब्धि होती रहती है और अन्त में मोक्ष तक की प्राप्ति होती है। सात्विक आहार आयु और बल की वृद्धि करता है और शरीर को नीरोग रखता है। मन में रजोगुण की वृद्धि होने से विषय भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति की अभिलाषा तीव्र रूप से जागृत होती है और बहिर्मुखी कर्म प्रवृत्ति की चेष्टा चढ़ती है। तमोगुण की वृद्धि होने से मन आलस्य, जड़ता, और मोह को प्राप्त होता है। अन्न का रसास्वाद जिह्वा ही ग्रहण करती है, इस लिये जिह्वा को जो वस्तु अच्छी लगती है वह राजसिक अथवा तामसिक होने पर भी उसको खाने की प्रवृत्ति होती है और सात्विक आहार कभी २ जिह्वा को प्रिय नहीं लगने से उसको खाने की इच्छा नहीं होती। यह इच्छा और अनिच्छा असंयमी को रुचि कर आहार में प्रवृत्ति और अरुचि कर आहार से निवृत्ति उत्पन्न करती है, परन्तु संयमी इच्छा अनिच्छा के वश में नहीं रहता, जिस, आहार से उस के संयम की रक्षा होती है वह ही आहार ग्रहण करता है। सब को यह बात याद रखनी चाहिये कि आहार

करने के लिये शरीर नहीं मिला है, शरीर की रक्षा के लिये ही आहार किया जाता है। शरीर की रक्षा केवल अनित्य सुख भोगों के साधन के लिये नहीं है वरन् रस स्वरूप और आनन्द स्वरूप आत्मोपलब्धि के लिये है। आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों की प्राप्ति करने के लिये जिस प्रकार शरीर नीरोग रहे वैसे ही उस की रक्षा करना ही प्रधान कर्तव्य है।

४५– दूसरों का मन रखने का यत्न करते रहने से श्री भगवान में कभी चित्त नहीं लग सकता। अमुक मनुष्य की बात नहीं सुनी तो वह असंतुष्ट होगा ऐसी वुद्धि रखना दुर्बल मन वालों को शोभा देता है। अविवेकी मनुष्य को प्रसन्न करने गये तो सदा ही असत्य का आश्रय लेना पड़ेगा, क्योंकि यदि तुमने उसके मतानुकूल वात नहीं की, उसकी प्रशंसा में कुछ न कहा, और जिससे उसके सुख भोगों में उन्नति होती है ऐसा कोई कार्य नहीं किया, तो कभी भी उसका सन्तोष संपादन नहीं कर सकोगे।

४६—यदि साधन में सिद्धि अर्थात् शान्ति पाना चाहते हो तो बहिरे अन्धे गूंगे और लंगड़े बन जावो। ऐसा मत समझना कि बहिरे अन्धे आदि बनने से हमारा अर्थ आंख फोड़ लेने से है, कानों को लोहे की शलाखा डाल कर तोड़ डालने से है, जिह्वा को तीक्ष्ण उस्तरे की धार द्वारा काट डालने से है और दोनों पैरों को मुग्दरादि द्वारा तोड़ डालने से है। जो नेत्र रूप से आकृष्ट होकर मुग्ध होते हैं उन नेत्रों को विचार द्वारा रूप से

हटा कर, अपने २ गोलकों में स्थापित रख कर अपने उपास्य देव पर जमाना ही अन्धों के सदृश रहना अथवा अन्धा बनना है। भली बुरी और निन्दा स्तुति की कथा वार्ता सुनने से मन चंचल होता है, इस लिये कानों को उनसे हटा कर अर्थात् उनकी ओर कान न देकर अपने उपास्य देव का नाम श्रवण करने में तत्पर रहना ही बहिरों के सदृश रहना है अर्थात् बहिरा बनना है। अपने उपास्य देव की कथा वार्ता के सिवाय कोई वृथा बात न करना, दूसरों की अहित कर, अर्थात् जिससे दूसरों के मन में दुःख हो ऐसी बात न कहना, सदा सत्य भाषण करना और बिना आवश्यकता के कोई बात न कह कर मौन रहना ही गूंगा बनना है। सिद्धि लाभ न होने तक नियत एक स्थान पर रह कर अपना साधन करना चाहिये, इसी को पंगुवत् रहना अथवा लंगड़ा बनना कहा है। साधन के समय इस तीर्थ से उस तीर्थ में, इस स्थान से उस स्थान में घूमना केवल चित्त में विक्षेप उत्पन्न करना है। इस लिये एक स्थान में बैठकर जिस प्रकार चित्त का विक्षेप दूर हो उसी के लिये विशेष रूप से यत्न करना ही सर्वोपरि कर्त्तव्य है।

४७—सदा सत्य का दृढ़ता पूर्वक आश्रय रखना चाहिये। सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं, एक बार जो कह दिया उसको प्राणों पर खेल कर भी पालना चाहिये। जहां सत्य है वहां पर धर्म भी है। सत्य की रक्षा के लिये वीर श्रेष्ठ और धार्मिक प्रवर भीष्म पितामह, सुख भोगादि का त्याग करके आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर ब्रह्मचारी रहे। अयोध्याधिपति

महाराजा दशरथ, कैकेयी को वर देने का वचन देकर कैकेयी के कहने के अनुसार अपने सत्य पालन के लिये प्रियतम पुत्र श्री रामचन्द्र को भी बनवास देने के लिये बाध्य हुये। सत्य पालन और प्रतिज्ञा की रक्षा स्वरूप धर्मका पालन करने के लिये महाराजा दशरथ ने रामचन्द्र जैसे पुत्र को बन में भेजने में भी पीछे पैर नहीं हटाया। धर्म ही मनुष्य का मेरु दण्ड है, धर्महीन जीवन तो जीवन ही नहीं। धर्म हीन का भविष्य कण्टक का कीर्ण होता है। सत्य की रक्षाके विषय पर एक सुन्दर कथा है—

एक वार एक राजा ने अपनी राजधानी में एक नया बाजार खोला, और ढिढ़ोरा पिटवा कर सर्वत्र घोषणा की कि जो २ आदमी इस बाजार में आकर माल बेचेंगे यदि उनका माल नहीं बिकेगा तो राजा उसको उचित मूल्य देकर खरीद लेगा। एक दिन एक व्यक्ति एक अलक्ष्मी (दारिद्रय) की मूर्ति तय्यार करके उस नये बाजार में बेचने लाया। जब खरीदने के समय खरीदारों को पूछने पर मालूम होता था कि वह अलक्ष्मी की मूर्ति है, तब उसको कोई भी नहीं खरीदता था। जान बूझ कर अलक्ष्मी को अपने घर कौन ले जाता ? इसी तरह बाजार बंद हो गया और संध्या हो जाने पर भी उसकी बिक्री नहीं हुई, यह देख कर अलक्ष्मी को बेचने वाला राजाके पास गया और राजा से उसके वचनानुसार उसका उचित मूल्य मांगा। तब राजा ने उचित मूल्य देकर अलक्ष्मी की वह मूर्ति रखली। उस दिन भोर होने से कुछ पहिले राजा जब निन्द्रा से उठा, तो उसने सुना कि घर के पीछे कोई रो रहा है। उस रोने के शब्द को सुन कर

कारण जानने के लिये राजा वहां गया, तो क्या देखता है कि एक सुन्दर स्त्री बैठी रो रही है। राजा ने उससे पूछा 'मां! तुम कौन हो? और क्यों रो रही हो?' उसके उत्तर में उस सुन्दर स्त्री ने कहा "राजन् मैं लक्ष्मी देवी हूं, आपने अलक्ष्मी को घर में स्थान दिया है, इस लिये अब मैं तेरे यहां अधिक नहीं ठहर सकती। जिस स्थान पर अलक्ष्मी का स्थान होता है वहां सदा कलह, हिंसा, कुटिलता, क्रोध और दारिद्र्य इत्यादि बास किया करते हैं। हमको यदि रखना है तो अलक्ष्मी का त्याग कीजिये। एक ही समय दोनों की पूजा नहीं हो सकेगी।" लक्ष्मी की बात सुन कर राजा ने उत्तर दिया कि 'हे मात! जब मैं ने सत्य की रक्षा करने के लिये अलक्ष्मी को स्थान दिया है, तब उसका परित्याग नहीं कर सकता, यदि वह अपनी इच्छासे चली जाय तो दूसरी बात है। आपकी इच्छा यहां रहने की हो तो रहिये, यदि न रहने की हो तो अन्यत्र चली जाइये। मैं तो सत्य से भ्रष्ट नहीं होऊंगा।' उधर लक्ष्मी अन्तर्ध्यान हो गई और राज्य क्रमशः श्री भ्रष्ट होने लगा। धन के नाश होने पर हाथी घोड़े और घर द्वार नष्ट होने लगे और कलह युद्धादि से राजा की क्रमशः बड़ी क्षति होने लगी। लक्ष्मी के साथ २ सरस्वती भी अन्तर्ध्यान हो कर प्रधान २ मन्त्रि और बड़े २ पण्डित गण काल के ग्रास बनने लगे। तब भी धार्मिक राजा किंचित् भी विचलित नहीं हुआ। एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में राजा शौच के लिये तय्यार होकर कुछ दूर गयेथे कि क्या देखते हैं, कि एक सुदर पुरुष जा रहा है, उसको देखते ही राजाने पुकार कर पूछा "कौन

जाता है?" उसके उत्तर में उस पुरुष ने कहा 'मैं धर्म हूँ।' धर्म! ऐसा उत्तर सुनकर राजा ने पूछा "आप कहां जा रहे हैं?" धर्म ने उत्तर दिया कि 'आपने अलक्ष्मी को स्थान दिया है, सुतरां अब हम यहां अधिक काल कैसे रहें? एक २ करके लक्ष्मी और सरस्वती सब चली गई हैं अब आया है हमारे जाने का समय।' उसके उत्तर में राजा ने कहा 'हे धर्मराज! यदि मैं अधर्म का काम करता तब तो आपको यहां से जाना चाहिए था, परन्तु मैंने तो कोई अधर्म का काम नहीं किया है बरन् अपने सत्य की रक्षार्थ ही प्रतिज्ञापालने के लिए अलक्ष्मी को घर में स्थान दिया है। सत्य रक्षा ही परम धर्म और परम तप है। मैं शास्त्रत: और न्यायत: कोई अधर्म नहीं करता, तब भी यदि आपकी जाने की इच्छा हो तो स्वच्छन्द जाइये, मैं प्राणान्त होने तक भी सत्य से च्युत नहीं होऊंगा। और आश्रित लोगों का त्याग करना भी क्षत्रियों के लिए अधर्म है; जब मैं ने अलक्ष्मी को स्थान दिया है, तब वह जब तक अपनी इच्छा से न जायगी तब तक मैं उसका त्याग करके अधर्म का कार्य नहीं करूंगा। राजा के धर्म से इस प्रकार कहने पर धर्म सोचा कि ठीक ही तो है, राजा तो कोई अधर्म नहीं कर रहा, सत्य की रक्षा अथवा सत्य का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है और आश्रितों की रक्षा और पालन करना भी क्षत्रियों का स्वधर्म है।' धर्म ने ऐसा सोचकर फिर राजपुरी में प्रवेश किया, क्योंकि चले जाने के लिए कोई छिद्र नहीं निकाल सके। धर्म के अन्तःपुर में फिर प्रतिष्ठित होने पर रस्सी

से बंधे हुवे पशु को जैसे रस्सी के खैंचने से दूर गई हुई गाय आदि स्वतः खिंच आती है वैसे ही धर्म के आकर्षण से लक्ष्मी और सरस्वती सब ने ही फिर राजपुरी में प्रवेश किया और राजा के यहां आ प्रतिष्ठित हुईं। लक्ष्मी के आने से अलक्ष्मी अधिक देर ठहर न सकी। राहु ग्रस्से चन्द्र को, जैसे राहु के त्याग कर देने पर, चन्द्रमा अपनी निर्मल ज्योत्स्ना युक्त फिर प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही अलक्ष्मी के चले जाने पर राजा फिर राज्य श्री सम्पन्न हो गया और प्रतिद्वन्द्वी रहित राज्य शासन करने लगा। धन्य है सत्य का प्रभाव !

४८—यश और प्रतिष्ठा की इच्छा है, तो श्री भगवान् के सामने यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति नहीं कर सकोगे। यदि उसके निकट प्रतिष्ठित होना चाहते हो तो प्रतिष्ठा और यश की आकांक्षा का शूकरी विष्टावत् त्याग कर दो।

४९—संसार तुम को भला अथवा बुरा जो कहे, उससे तुम्हारा कुछ आना जाना नहीं होगा। अच्छी और बुरी दो ही बातें है। उनमें से जो अच्छी बात है उसको ही करना उचित है अच्छा काम करके मन में कपट को आश्रय मत दो। कपट बड़ा भारी पाप है। जिस बात से आत्म प्रसाद को प्राप्ति हो वह ही कार्य करना चाहिए। निषिद्ध कर्म द्वारा कभी भी आत्मप्रसाद की प्राप्ति नहीं होती। वैध कर्म का अर्थात् जिससे आत्मप्रसाद का लाभ हो, यदि लोकमत उसके विरुद्ध भी हो तो भी त्याग मत करो, क्योंकि इस जगत् का नियम है कि तुम को जो कार्य अच्छा समझ में आता है वह दूसरों को

बुरा लगता है और अन्य तीसरे उससे उदासीन रहते हैं। अच्छे कर्म सदा करते रहना चाहिये और बुरे कामों से सदा दूर भागना चाहिए। कुकर्म करने में लज्जा आनी उचित है, सत्कर्म करने में कभी लज्जा या भय मत मानो। साधक भय मानता है अधर्म से, न कि धर्म से !

५०—दुःख और विपदा साधक के मित्र हैं और सुख तथा सम्पदा ही साधक के शत्रु हैं। दुःख और विपद ही साधक को श्री भगवान का ध्यान करने और तत्परायण होने की शिक्षा देते हैं। दुःख न होता तो नित्यशान्ति की आशा में कौन श्री भगवान को पुकारता। दुःख है, इसीलिए तो उसके दूर करने के लिए श्री गुरु की शरण में जाकर मनुष्य दुःख निवृत्ति का उपाय पूछता है। श्री भगवान का आश्रय लेकर दुःख और घोर विपद में भी रहना अच्छा है, परन्तु श्री भगवान की विस्मृति करके स्वर्ग का सुखभोग करना अच्छा नहीं। कुन्ती देवी ने कहा है कि 'हे जगद्गुरु ! हे कृष्ण ! हमको वह विपद ही सदा उपस्थित रहे जिस विपद में हम तेरे सदा दर्शन पाते रहे। तुम्हारे दर्शन पाकर फिर दूसरा जन्म नहीं होता। तुम को छोड़कर परमपद लाभ करने की अपेक्षा, तुम्हारे साथ रहकर घोर विपद में निमग्न रहना सहस्र गुण अच्छा है।

५१—पराई स्त्री को मां के सदृश मानो। उनके मुख की ओर न देख, चरणों पर दृष्टि रख कर बात करो। बिना किसी विशेष आवश्यकता के किसी स्त्री से बातें करना अच्छा नहीं है। साधन करने वाली स्त्रियों को भी इसी तरह पर पुरुष को

पिता के सदृश समझना चाहिये, उनके चरणों के सिवाय मुख की ओर नहीं देखना चाहिये और बिना विशेष आवश्यकता के उनसे वार्तालाप भी नहीं करनी चाहिये।

५२—आत्म प्रशंसा मत करो, आत्म प्रशंसा करना अत्यन्त पाप जनक है। जो लोग आत्म प्रशंसा करते हैं, समझलो उनमें कोई सत्यता नहीं। वे उस फल * के सदृश हैं जिसमें, राख भरी होती है। महा भारत में लिखा है कि आत्म प्रशंसा आत्म हत्या के तुल्य पाप है।

५३—प्रत्येक मनुष्य में सद्भाव और असद्भाव दोनों मिश्रित रहते हैं परन्तु उनके सद्‌गुणों को ही देखो और उनकी खोज में रहो। उनके असद्भावों की सदा उपेक्षा करो। सद्भाव ग्रहण करते रहने से सत् संग प्राप्त होगा, परन्तु सत्संग करके भी यदि उस से असद्भाव ग्रहण किया, तो असत् संग की ही प्राप्ति होगी। साधक को सद्‌गुण ग्रहण करने के लिये मधुमक्षिका के सदृश होना चाहिये, न कि मक्खी के सदृश। मधु मक्षिका फूल के सार स्वरूप मधु के लिये एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर घूमती फिरती है और मक्खी किसी न किसी के घाव, फोड़े फुन्सी इत्यादि को ढूंढ़ती रहती है। जो लोग असद्ग्राही और पर निन्दक हैं उनका स्वभाव ठीक मक्खी जैसा होता है।

५४—कुछ सिद्धि, विभूति अथवा शक्ति का प्रदर्शन करने से ही कोई महा पुरुष नहीं बन जाता। यदि कुछ सिद्धि या

---

*(१) नोट:—बंगला प्रान्त में माकाल नाम का एक ऊपर से अति सुन्दर दिखने वाला फल होता है, जिसके भीतर राख सी भरी होती है।

विभूति दिखाने से ही महा पुरुष बनना संभव होता तो शास्त्रकार इन्द्र जाल के खेल करने वालों को भी महापुरुष क्यों नहीं कहते ? और तत्व जानने के लिये भी उसके पास जिज्ञासु क्यों नहीं जाते ? महापुरुष वह है जो अष्ट सिद्धि प्राप्त करने पर भी उनमें वीत राग रहता है। जो अष्टपुरी में निवास करता है वह पुरुष पद वाच्य है। अष्टपुरी किस को कहते हैं ? पांच ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा, पांच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद पायु, और उपस्थ, पाँच महाभूत—क्षिति, जल, पावक, मरुत् और व्योम, पांच प्राण—प्राण, अपान समान, उदान और व्यान, अन्तः करण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, और काम, कर्म और तम ये तीनों; इन आठों के संग्रह को अष्टपुरी कहते हैं। इस अष्टपुरी में जीव-चैतन्य अथवा जीवात्मा निवास करता है, इसलिये उसको पुरुष कहते हैं; गीता में उसको अक्षर कहा है। महा विशेषण के योग से महापुरुष का अर्थ परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम ही समझा जाता है। जो परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम को जानता है वह ही महापुरुष कहलाने का अधिकारी है। श्रुति का वचन है 'जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म ही हो जाता है' जिसको देखो कि प्रतिष्ठा पाने के लिये आत्म-प्रशंसा करता है अथवा दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कोई सिद्धि दिखाता है वह महापुरुष तो होना दूर है पुरुष पद वाच्य भी नहीं। पुरुष वह है जो निर्विकार और निर्गुण स्वरूप है। जिसने अपने अन्दर निर्विकार और निर्गुण स्वरूप की उपलब्धि कर

ती है वह तुच्छ प्रतिष्ठा के लाभ के लिये सिद्धियाँ दिखा कर संसार का संग्रह करेगा, यह सम्भव नहीं।

५५—ज्ञानी प्रधानतः तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। नित्य मुक्त ज्ञान स्वरूप आत्मा देह में स्थित है, ऐसा जो सोचता है उसको अधम ज्ञानी कहते हैं। ध्यान और विचार द्वारा जिसकी बुद्धि कुछ निर्मल होने पर, आकाश में घटाकाश वत् अखण्ड चैतन्य ही यह देहावछिन्न चैतन्य आत्मा है, ऐसा जिसने आत्मानुभव किया है उसको मध्यम ज्ञानी कहा जाता है। ध्यान की गम्भीरता द्वारा जब "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी ज्ञान स्वरूप वृत्ति का सात्विक अहंकार पर्यन्त एक दम लय होजाता है, तब सब ही ब्रह्म, सब ही चिन्मय अनुभव में आने लगता है और देह देही का पृथक्‌ बोध नहीं रहता। जैसे जल की तरंगे जल से भिन्न कुछ नहीं हैं, उसी तरह एक अखण्ड चैतन्य से पृथक सब अचेतन नाम रूप की उपाधियाँ कुछ नहीं हैं। जल को तरंगों के रूप में न देख कर जल स्वरूप जो देखना है उसी को निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। और जल को तरंगों के रूप में देखने का नाम सविकल्प ज्ञान है। जो मनुष्य अद्वितीय आत्मा को नाना रूप न देख कर, चैतन्य सत्ता से भिन्न अन्य सत्ता नहीं देखता, वह ही उत्तम ज्ञानी है।

५६—क्रोध को सदा दमन करने की चेष्टा करो। कभी किसी को भस्म करने की इच्छा से, किसी को मारने के लिये, और किसी को कभी नाना प्रकार का कष्ट पहुंचाने के लिये हृदय में क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। जैसे अग्नि जिस

स्थान पर प्रज्वलित होती है पहिले उसी स्थान को जलाती है और भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी जब हृदय में उत्पन्न होती है, पहिले हृदय ही को जलाती रहती है और भस्म करती है। क्रोध बड़ा भारी शत्रु है। साधक का सर्वस्व नाश कर देता है। क्रोधी मनुष्य मूढ बुद्धि होकर गुरु तक पर भी झिल्ला उठता है। क्रोध आने पर अविवेक का उदय होता है अर्थात् कौन सा काम करना चाहिये कौन सा नहीं करना चाहिये, इसमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से शास्त्र और श्री गुरु के उपदेश से प्राप्त होने वाली अर्थानुसंधान कारक स्मृति में पहिले तो भ्रम आता है और तत्पश्चात् ब्रह्माकार कराने वाली बुद्धि में विपर्य्यय की दशा उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् बुद्धि का नाश हो जाता है। इस प्रकार क्रोध के दोषों पर विचार द्वारा उसका दमन करो। अथवा किसी कारण किसी पर क्रोध आ जाने पर जब तक क्रोध दूर न हो, बोलना बन्द करके मौन धारण कर लो, और श्री भगवान का नाम स्मरण करने लगो।

५७—सदा सत्य बात कहो, प्रिय वचन बोलो और अप्रिय सत्य किसी से मत कहो, अर्थात् जिस बात से दूसरे के मन में दुःख हो ऐसी सत्य बात भी मत कहो। मानो एक आदमी चोर है और यह बात वह स्वयं भी जानता है और दूसरे भी सब जानते हैं परन्तु तो भी यदि तुम उसको चोर कह कर बुलावोगे और चोरी का दोषारोपण करोगे तो उसके मन में दुःख होगा।

५८—स्त्रियों को शास्त्र ने अबला क्यों कहा है ? जितेन्द्रिय

पुरुष के ऊपर स्त्री किसी प्रकार अपनी शक्ति का प्रभाव नहीं डाल सकती, इसी लिये उसका नाम अबला है। अ+बला नहीं है बल जिसमें, अर्थात् शक्तिहीना। वह कामाशक्ति के लिये अबला नहीं है वरन् सबला है और महाशक्तिमती है।

५६—मनुष्य के माता, पिता और गुरु तीन प्रधान गुरु होते हैं, तीनों में ज्ञानदाता गुरु सर्वश्रेष्ठ है। माता पिता से यह मलपूर्ण देह उत्पन्न होता है, जिसके मोह वश आश्रित रहने से मिथ्या अहं बुद्धि की उत्पत्ति होती है, और वह सदा दुःख का कारण है। यह देह नश्वर है। परन्तु श्री गुरु अपने शक्तिपात के प्रयोग द्वारा शिष्य के देह में वह बीज बोते हैं, जिससे उसके देह में दिव्य देह की उत्पत्ति होती है, जिसका आश्रय लेकर 'मैं मिथ्या देह इत्यादि नहीं हूं, मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूं' इस दिव्य ज्ञान का उदय होता है और दुःख का नाश हो जाता है, परन्तु उस दिव्य देह का नाश नहीं होता, वह अजर अमर है। स्पर्शमणि के स्पर्श से लोह सुवर्ण हो जाता है, किन्तु स्पर्शमणि लोह को अपने सदृश स्पर्शमणि नहीं बना सकती। परन्तु श्री गुरु शिष्य को अपने शक्ति पात द्वारा निर्मल कर देते हैं और फिर तत्त्वज्ञानोप-देश द्वारा आत्मस्वरूप प्रदान पूर्वक अपने सदृश बना लेते हैं। श्रुति कहती है 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अर्थात् माता, पिता और आचार्य अर्थात् गुरु को देवता समझ कर सेवा करो। मनु कहते हैं कि मातृ भक्ति द्वारा लोक की, पितृ भक्ति द्वारा अन्तरिक्ष लोक और गुरु भक्ति द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

६०—दान करना गृहस्थियों के लिये एक महान् तप है। कलियुग में दान ही एक मात्र तपस्या है—ऐसा मनु का कहना है। सत्पात्र को देना ही वास्तविक दान है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से दान तीन प्रकार का होता है।

(क) निष्ठावान और शास्त्रज्ञ साधु संन्यासियों को जो केवल भगवान की उपासना और ध्यानादि में तत्पर हों, देशहित और लोकहित में लगे हों, षडङ्गविद आचारवान् हों और जो प्रत्युपकार करने में समर्थ न हों, ऐसे दीन दुःखियों को तीर्थादि स्थानों पर, संक्रान्ति सूर्य अथवा चन्द्र ग्रहण के समय, अथवा अपना कर्त्तव्य समझकर बिना फलकी इच्छाके जो दान किया जाता है वह सात्विक दान होता है। धर्म शास्त्रों में कहा है 'जो ब्रह्मचारी नहीं है और विद्या नहीं पढ़ता, ऐसे व्यक्ति को यदि गांव के लोग भिक्षा देते हैं तो राजा उन गांववालों को चोर के समान दण्ड दें। विद्वान् संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को जो अन्न मिलना चाहिए, उसको असाधु और अशिक्षित मनुष्य ग्रहण करें, तो वे चोरी के अपराधी होते हैं, इसलिए जो इस तरह दूसरों का भाग अपहरण करने वालों को प्रोत्साहन देते हैं, वे भी दण्ड के भागी हैं।' दान लेने से दाता के पाप ग्रहण करने पड़ते हैं। जो तप द्वारा उन पापों को ध्वंस करने में और दाता के मंगल साधन में समर्थ हैं वे ही दान के योग्य पात्र हैं। इसलिए तपस्वी और विद्वान् साधुओं और ब्राह्मणों को दान और भोजन देने का विधान शास्त्र सदा से करते आये हैं।

(ख) यह धन दान करने से दान लेने वाला समय पर

हमारा उपकार करेगा, अथवा इस दान के पुण्य से स्वर्ग से सुखभोगों का फल मिलेगा, अथवा दान करते समय चित्त में क्लेश उत्पन्न हो कि इस मनुष्य को दान क्यों दिया, तो दाता का ऐसा दान राजसिक दान कहलाता है।

(ग) अपवित्र स्थान पर, अशौच के समय, अथवा संक्रान्ति आदि किसी पर्व विशेष के बिना और पुण्य तिथि को छोड़कर किसी भी समय मूर्ख, चोर, वेश्या, नटनी प्रभृति कुपात्रों को जो दान दिया जाता है, उसको तामसिक दान कहते हैं। अथवा देश, काल और पात्र इत्यादि उपयुक्त होने पर भी यदि शास्त्रीय विधि के अनुसार पाद प्रक्षालनादि संस्कार बिना अथवा मधुर वचन न कहकर अवज्ञा पूर्वक किया हुआ दान भी तामसिक दान होता है। भूखे को अन्न, नंगे को वस्त्र और ग़रीब रोगियों को औषध देना भी दान के अन्तर्गत है।

६१—हृदय को एक दम सरल करदो, खाली कर डालो। जहां पर सरलता है वहां पर ही श्री भगवान् विराजते हैं। सरल हृदय में भगवान आविर्भूत होते हैं, और सरल हृदय भक्त को अपना बतलाते हैं। एक दिन श्रीमती राधारानी ने श्री कृष्ण भगवान की बंशी से पूछा कि "हे बांसुरी! तुमने पूर्व जन्म में ऐसा क्या सुकर्म किया कि तुम श्री भगवान की इतनी प्रिय हो और वे तुम को अपने श्रीमुख के अधरों पर लगाये रहते हैं और तुम उनका अधरामृत पान करती हो।" यह बात सुन कर बंसी ने उत्तर दिया "राधे! पूर्व जन्म की बात तो मुझको याद नहीं। पूर्वकाल में मेरा जन्म हुआ भी था या नहीं यह

मुझको नहीं मालूम,परन्तु मैं इतना कह सकती हूं कि मैं बांसकी पोरी भीतर से पोली हूं, तुम हमारे भीतर देखो, इसमें क्या है ?" राधा ने भीतर देखकर कहा कि तुम्हारे भीतर कुछ भी, नहीं. बिल्कुल खाली है। तब बंशी ने कहा "जब मेरे भीतर कुछ भी नहीं, तब समझलो कि मैं कुछ नहीं। मेरे भीतर से जो ये सब सुन्दर रागरागनियां निकलती हैं, वे सब श्री भगवान के श्री मुख से निकलती हैं।" यह सुनकर राधा प्रसन्न होती हुई चली गई।

बालक के सदृश सरल हृदय से पुकारने पर प्राणों के स्वामी अन्तर्यामी ईश्वर हृदय में बैठे हुए उत्तर देते हैं, उनके संग खेलते हैं और वार्तालाप करते हैं। तुम सरल हृदय बालकों से पुकारना सीखलो। आहा! बालकों का कैसा सरल हृदय होता है, शिशु मां के सिवाय दूसरे को नहीं जानता, इसलिए सुख में दुःख में सदा लगातार 'मां मां' ही चिल्लाता है। 'मां' के सिवाय वह और कुछ नहीं जानता। 'मां मां' के अतिरिक्त उसके मुख से दूसरे शब्द नहीं निकलते। मां यदि अपने किसी जरूरी कार्य में लगी हो तो भी बालक मां के पास जाने के लिए उसकी शान्तिमय गोद में बैठकर हृदय को शान्ति देने के लिए, उसके स्तनपान करके पियास बुझाने के लिए और उसके शीतल अंग का स्पर्श करके प्राणों के लिए व्याकुल होकर पुकारता है पुकारने से यदि मां को नहीं पाता तो रो २ कर अधिक व्याकुलता से रोता है, अन्त में मचल कर धूल में लोट पोट होने लगता है और रोता है। मां जब सब काम

छोड़कर उसके पास बैठकर 'आ बेटा' कहकर हाथ बढ़ाकर गोद में ले लेती है, तब उसको शान्ति मिलती है।

इस प्रकार सरल भक्त के हृदय में भी जब तक भगवान उसके सन्मुख नहीं आते, उसके साथ वार्तालाप नहीं करते, शान्ति नहीं होती। सरल हृदय से पुकारने पर क्या मजाल है कि वे अन्दर छुपे रहें। हृदय की सरलता पर यह एक सुन्दर कथा है:—

एक ब्राह्मण के घर में गोपाल की एक मूर्ति प्रतिष्ठित थी, उसकी दैनिक पूजा होती थी और भोगादि लगाया जाता था। एक दिन किसी काम ब्राह्मण अन्यत्र चला गया, जाते समय वह अपने नौ वर्ष के बालक को बुला कर कह गया 'बेटा यादू, गोपालजी की पूजा करियो, और उनको भोग लगाइयो। उसके उत्तर में यादू ने 'अच्छा' कह कर गर्दन झुका दी। दूसरे दिन यादू पूजाघर में गया और गोपालजी से कहने लगा, 'ठाकुरजी, खाओ !' यादू समझा कि गोपालजी की मूर्ति भी उसके सदृश जीवित है और उसके सदृश खाती पीती और चला फिरा करती है। एक बार खावो कहने से जब गोपालजी ने नहीं खाया, तो फिर कहा 'खाते क्यों नहीं, खावो ठाकुरजी !' इस बार भी जब उसके कहने पर गोपालजी ने नहीं खाया, तब यादू प्रेम से क्रोध करके कहने लगा 'शीघ्र खालो, यदि नहीं खावोगे तो पिताजी आकर जब सुनेंगे कि तुमने नहीं खाया, तो मुझको भला बुरा कहेंगे।' फिर भी जब देखा कि ठाकुरजी ने खाने को हाथ नहीं बढ़ाया, तब हाथ में एक बांस की लाठी लाकर वह

बोला 'खालो, अब खालो, नहीं तो यह लकड़ी तुम्हारे सिर पर मारूंगा' आहा ! बालक का सरल हृदय ! लाठी उठाते उठाते भक्तवत्सल श्री भगवान ने उस सरल हृदय की पुकार सुन कर और सरल प्रेम से उस सीधे साधे बालक के पास पत्थर की मूर्ति के भीतर से हाथ बढ़ा कर खाना आरम्भ कर दिया। वह सरल हृदय बालक आनन्द मग्न होकर गोपालजी को देख कर कहने लगा 'यह सब खाना होगा एक टुकड़ा भी थाली में नहीं छाड़ने पाओगे। परम प्रिय श्री भगवान सीधे साधे बालक के कहने से सब खाकर अन्तर्ध्यान हो गये। उधर यादू की मां ने घर आने पर देखा कि उसे जो भोग लगाने को दिया गया था, उसमें से कुछ भी नहीं है। वह जानती थी कि पत्थर की मूर्ति के गोपाल तो कुछ खाते नहीं, रोज जितना भोग लगाया जाता था, उतना ही रहता था। इस लिये उसने यादू से कहा 'यादू, तू सब भोग खा गया।' उसके उत्तर में यादू ने कहा 'मां ! मैं क्यों खाता, गोपाल ने सब खाया है।' मां सरल हृदय बालक की बात का विश्वास न कर सकी, क्योंकि उसका हृदय ऐसा सरल नहीं था। इसलिये उसने यादू को बिना डांटे नहीं छोड़ा, परन्तु सीधा साधा बालक जानता था कि गोपाल ने ही खाया है, इस लिये उसके मन को मां के कहने का कुछ बुरा नहीं लगा। दूसरे दिन फिर जब यादू गोपाल की पूजा करने मंदिर में गया और उसने गोपालजी से कहा 'गोपाल खावो।' तब उसकी मां ने मंदिर के पीछे खड़ी होकर उसकी बातें सुनीं और कौतूहलवश सब घटना देखने के लिये खड़ी हो गई। यादू को

फिर कहते सुना 'गोपालजी! कल की तरह हमको परेशान मत करना, आज अच्छे लड़के की तरह चुपचाप सब खा लेना।' तब गोपाल ने पूछा 'कल तुम हमको क्यों पीटना चाहते थे?' तब यादू ने कहा 'तुमसे बार २ कहने पर भी तुम खाते क्यों नहीं थे? आज खा लो, अब कभी नहीं मारेंगे।' गोपाल और यादू में इस प्रकार बातें होतीं सुन कर यादू की मां ने कौतूहल से दीवार में से एक छिद्र द्वारा मंदिर के भीतर निगाह डाली तो देखा कि गोपाल ने खाना आरम्भ किया है। यह देख कर यादू की मां भावावेश से कुछ समय के लिये संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ी। इधर गोपाल का भोजन हो जाने पर यादू मंदिर से बाहर निकला और उसने मां को भोजन के लिये पुकारा। यादू की आवाज़ सुनकर मां को होश आया, उठ कर आई और यादू को खाने को दिया। इस बार यादू की मां ने यादू से कुछ नहीं कहा। गोपालजी के दर्शन से उसके दिव्य नेत्र खुल गये थे और उसके हृदय में प्रबल विश्वास और भक्ति उत्पन्न हो गई थी। जब यादू के पिता घर वापिस आये, तब यादू की मां ने सारा वृत्तान्त सुनाया और भक्ति से विह्वल होकर रोने लगी। यादू का पिता भी, सरल बालक के पुकारने से श्री भगवान ने उसकी पत्नि को दर्शन देकर कृतार्थ किया, परन्तु वह मंदभाग्य उस सौभाग्य में भागी न हो सका, इसलिये अपने कर्मों को धिक्कार कर रोने लगा। धन्य यादू और उसका सरल हृदय! ऐसा सरल हृदय नहीं होता तो क्या पत्थर की मूर्ति में से चिन्मय गोपाल आविर्भूत होकर यादू का लगाया हुआ भोग ग्रहण करते?

६२—हरि का मधुर नाम पियास के लिये जल है । दाल, भात, साग, रोटी, पूरी, तरकारी, संदेश, रबड़ी, मलाई, दूध, दही, मक्खन, रसगुल्ला, जलेबी, राजभोग, मोहनभोग और मक्खनवड़ा इत्यादि अनेक पदार्थ कितना भी क्यों न खालो, पियास बिना पानी के किसी अन्य वस्तु से नहीं बुझती और बहुत कुछ खाने पर भी पानी न पीने तक भोजन में तृप्ति नहीं होती, वैसे ही हजारों विषयों का उपभोग क्यों न करो जब तक नित्यस्वरूप श्री भगवान का आश्रय नहीं ग्रहण किया जाता, उसके नाम और ध्यान में तन्मय नहीं होते, तब तक तुम्हारी आनन्दप्राप्ति की प्यास नहीं बुझ सकती । इसी लिये श्रीभगवान ने अर्जुन को निमित्त बना कर मोहांध मनुष्यों को उपदेश किया है कि इस अनित्य दुःखमय संसार में पड़ कर अर्थात् नित्य ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा का भजन और उपासना करो।' कठोपनिषद् में कहा है कि प्रणव ही अपर और परब्रह्म का वाचक, कार्यब्रह्म और परब्रह्म स्वरूप मंत्र है । प्रणव ही उक्त उभय प्रकार के ब्रह्म का प्रतीक है। इस ही अक्षर को दोनों प्रकार का ब्रह्म जान कर जो उपासना करते हैं और जिस बात की इच्छा करते हैं, उनको वैसी सिद्धि होती है अर्थात् जो निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म को जानना चाहते हैं वे उस तत्व को पाते हैं और जो कार्य अर्थात् सगुण ब्रह्म विष्णु शिव इत्यादि के दर्शन करने की इच्छा करते हैं उनको उनकी सिद्धि होती है । इस अक्षर द्वारा ही परब्रह्म को जाना जाता है और अपर ब्रह्म को पाया जाता है । इसलिये इसका अवलम्बन ही ब्रह्म प्राप्ति के सब

आलंबनों में श्रेष्ठ और अतिशय प्रशंसनीय है । साधक इस आलंबन को जानकर स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और ब्रह्मवत् ब्रह्मलोक में पूजित होता है। प्रत्येक मंत्र में सगुण और निर्गुण भावनिहित रहता है। ब्रह्म एक और अद्वितीय है परन्तु अविद्या के कारण उसके बहुत से नाम और रूप हैं। गंगा तो एक ही है परन्तु गंगा पर उतरने के लिये घाट असंख्य हैं। जिस घाट पर जाने की इच्छा हो जाओ और गंगा में उतर कर पियास बुझाने के लिये जलपान करलो और प्राणों को शीतल करो । जल पान करना ही तो उद्देश्य है घाट तो अपने उतरने की सुविधा के लिये पसन्द करना होता है। अपनी पसन्द के अनुसार जिसको जिस घाट पर जाने की इच्छा होती है उस पर जाकर गंगा में उतर कर जल पान करता है। जल पान से होने वाली तृष्णा की निवृत्ति और प्यास की शान्ति सबको एक समान ही होती है। वैसे ही ब्रह्मानंद की प्राप्ति ही मनुष्य का उद्देश्य है, उस ब्रह्मरूपी गंगा में उतरने और उसको पाने के लिये उस ब्रह्म रूपी गंगा के अनन्त नाम और रूप विशिष्ट घाटों में जिसको जो पसन्द हो उसका अवलंबन लेकर ब्रह्मरूपी गंगा में उतर कर अर्थात् उसमें तन्मय होकर आनन्द ले सकता है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से होने वाली दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति सब को एक समान होगी, किसी को फिर दुःख नहीं रहेगा और न कभी फिर उत्पन्न होगा। हे मोह रूपी निद्रा में सोये हुये मनुष्यों ! मोह निद्रा से जागो और अपने जन्म-जन्मान्तर की पियास मिटाने

के लिए सद्‌गुरु के पास जाकर आनन्द प्राप्ति के उपाय की जिज्ञासा करो। जो सत असत् कार्य कारण अर्थात् अपर और परब्रह्म को जानते हैं वे ही सद्‌गुरु हैं। सद्‌गुरु की शक्ति तुम में पात होकर अर्थात् शक्ति संचारित होकर तुम को भक्ति योग और ज्ञान प्राप्ति की उपायभूत कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा सिद्ध मार्ग पर आरूढ़ करा देगी। अतएव सद्‌गुरु से उपाय प्राप्त करके जब तक उद्देश्य पूरा न हो तब तक तीव्र पुरुषार्थ का अवलंबन लिए रहो। जैसे मां के सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति पिता के बारे में कहने को समर्थ नहीं होता कि पिता कौन है, पिता का स्वरूप क्या है, यह मां जानती है और सन्तान को मां ही बताती है, वैसे ही गुरु शक्ति भी गुरु का यथार्थ स्वरूप शिष्य को ज्ञात कराती है। गुरु ही ब्रह्म है, जो ब्रह्म को जान लेते हैं वे ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं, यह श्रुति सिद्ध बात है। जिन्होंने अपने ब्रह्मस्वरूप को नहीं जाना है और जो अपनी शक्ति का शिष्य में संचार करने में समर्थ नहीं हैं वे गुरुपद के योग्य नहीं। श्रुति कहती है कि विषयों के भोगी जो लोग गहन अन्धकार के सदृश अविद्या में पड़े हुए स्त्री पुरुष और पशु आदि विषयों की असंख्य तृष्णाओं से जकड़े हुए हैं और अपने आपको शास्त्रज्ञ और प्रज्ञा सम्पन्न पण्डित मानते हैं ऐसे व्यक्तियों को गुरु बनाना एक अन्धे के द्वारा दूसरे अन्धे को रास्ता चलाना है, जिससे दुःख ही की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार उससे शान्ति पाना तो दूर की बात है, मनुष्य महान् दुःख में गिरता है, उसे कभी मोक्ष रूपी

परम शान्ति नहीं मिल सकती। इस विषय पर एक सुन्दर कथा कहते हैं, सुनो।

किसी समय एक राजा ने शान्ति प्राप्ति के लिए सामाजिक नियमानुसार अपने कुल गुरु से दीक्षा ली। मन्त्र लेकर राजा ने गुरु से कहा कि शान्ति मिलने के लिए हम को क्या क्या करना चाहिये, सो बतावें। उसके उत्तर में गुरु देव ने कहा कि नाम का जाप और पूजा पाठादि करने से शान्ति मिलेगी। श्री गुरु के आदेश के अनुसार राजा ने जप और पूजा पाठादि में खूब मन लगाया। इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत होगया परन्तु राजा को शान्ति नहीं मिली। तब गुरुदेव को बुलाकर उनसे निवेदन किया कि आपके आदेश के अनुसार तो मैं कार्य कर रहा हूं परन्तु शान्ति तो मिलती नहीं, आनन्द की प्राप्ति तो होती ही नहीं। तब गुरुदेव बोले कि आपको आगामी सूर्यग्रहण के समय मन्त्र का पुरश्चरण करना होगा। पुरश्चरण करने के लिये क्या क्या करना चाहिए यह पूछने पर गुरुदेव ने होमादि के लिए सामग्री की फहरिस्त लिखकर दे दी और राजा ने तदनुसार सब सामग्री संग्रह करली। ग्रहण के समय यथा विधि पुरश्चरण समाप्त हुआ, परन्तु राजा को शान्ति नहीं मिली। राजा के फिर शान्ति की प्रार्थना करने पर गुरुदेव ने कहा "राजन्! आपको तन्त्र विधि के अनुसार शाक्ताभिषेक करना चाहिये।" गुरुदेव ने ऐसा कहकर फिर एक फहरिस्त बनादी और शान्ति का प्रार्थी राजा बिना विलम्ब के फहरिस्त के अनुसार सब प्रयोजनीय वस्तुओं का संग्रह कर श्री गुरुदेव

के समीप उपस्थित हुआ, इसके पश्चात् राजा यथा रीति अभिषिक्त हुये और गुरूपदेश के अनुसार कार्य करने लगे, इस प्रकार कई वर्ष अनुष्ठान करते रहने पर भी शान्ति न मिलने पर फिर गुरुदेव को बुलाकर कहा "गुरुदेव आपके उपदेश के अनुसार जो २ करने को कहा गया सब किया, परंतु हृदय को शान्ति मिलना तो दूर है, अशांति दिनों दिन बढ़ती जा रही है। ये राज्य सुख भोग अब कुछभी अच्छे नहीं लगते। इस अनित्य देह द्वारा राज्य धनादि दोनों से क्या लाभ? इस मुहूर्त में ही इस शरीर का पतन हो सकता है। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यदि जीवन काल में ही शांति नहीं मिलेगी तो मरने के पश्चात् शान्ति मिलेगी इस का क्या विश्वास? गुरुदेव राजाकी बातें सुन कर सोचने लगे कि अर्जुन का विषाद नष्ट करने के लिये श्री भगवान ने जो गीता का उपदेश किया था, उसी का उपदेश करें तो राजा को शान्ति मिल जायगी। ऐसा मन में विचार कर राजा से कहा 'राजन्! अब मैं आज से आपको गीता सुनाऊंगा और मेरा विश्वास है कि ब्रह्मविद्या स्वरूप गीता आपको शान्ति देगी। श्री भगवान के मुख कमल से निकली हुई इस गीता ने अर्जुन को शांति प्रदान की थी। गुरुदेव को शास्त्र ज्ञान का अभाव तो था नहीं, उन्होंने राजा को नाना टीका टिप्पणियों की सहायता से गीता समझाने में त्रुटि नहीं रखी, परन्तु सब चेष्टायें भस्म में आहुतियां डालने के समान व्यर्थ गईं, परन्तु राजा को शान्ति न दे सकीं। इस प्रकार कुछ काल गीता सुनने पर राजा ने अनुभव किया कि उनके हृदय को इस

प्रकार भी शान्ति और आनन्द का अभाव ही रहा, तब गुरुदेव से कहा कि 'भगवन् ! मुझ को तो अब भी शान्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, आपके उपदेश के अनुसार गीता भी सुन ली। मेरे प्राण अत्यन्त व्याकुल हैं, इस अनित्य संसार में किंचिन्मात्र भी शान्ति नहीं, यह ठीक जान चुका हूं। शांति के लिये आपकी शरण ली है, आपकी आज्ञा और उपदेश के अनुसार सब कार्य भी किये हैं परन्तु तौ भी आज तक शांति नहीं मिली। हाय ! न जाने यह मंद भाग्य इस जन्म में शांति पाने का अधिकारी होगा या नहीं। यदि आप आज से सात दिन में मुझ को शांति नहीं दे सकेंगे तो सातवें दिन आपका शिर काट डाला जायगा, ऐसा कह कर राजा दुःखित मन से अपने महलों में चला गया। उधर गुरुदेव ने भी भयभीत औ खिन्न चित्त हो कर अपने घर का रास्ता लिया, उनके मन में अब उल्लास कहां था ? वे सोचने लगे कि राजा का गुरु होने से यह लाभ हुआ कि अन्त में प्राण पर्यन्त देने पड़ेंगे। यदि राजा को शान्ति न दे सका तो राजा की आज्ञा से सातवें दिवस निश्चय ही हमारा शिर उड़ा दिया जायगा, इतने शास्त्रादि पढ़े परन्तु सब ही वृथा हुये। हाय ! मैं मर गया तो मेरे स्त्री पुत्रादि क्या करेंगे ? एक पुत्र है वह भी किसी काम का नहीं, आधा पागल है और ऊपर से उसका छोटी ही उमर में विवाह कर दिया गया है। मैं मर गया तो इन तीन प्राणियों को प्राण रक्षा उस पागल के द्वारा किसी प्रकार नहीं हो सकेगी। मैं राजा को शान्ति नहीं दे सका तब मेरे पीछे राजा मेरे परिवार का भरण

पोषण करेगा ही क्यों? इस तरह नाना प्रकार की चिंतायें करते २ राज गुरु अपने घर पहुंचे। घर पहुंचने पर ब्राह्मणी उन को खिन्न बदन देख कर अत्यन्त दुःखी हुई और ब्राह्मण के कुछ विश्राम लेने के पीछे उनकी खिन्नता का कारण पूछने लगी। तब राजगुरु अपनी पत्नि से सब बृत्तांत कहकर रोने लगे, ब्राह्मणी भी यह सोच कर कि राजा की आज्ञा से पति का शिर छेद अवश्य होगा, छाती पीट कर हाय २ रोने लगी। कुछ देर इसी तरह पति पत्नि रो पीट कर अपने २ कर्मों को धिक्कारते हुये चुप हो गये और खिन्नता पूर्वक अपना २ कार्य जो नहीं कर पाये थे पूरा करने की तय्यारी करने लगे। राजगुरु के लड़केकी उमर २० वर्ष की थी, उसका नाम था 'राम', लिखना पढ़ना वह कुछ नहीं जानता था। वह कहां रहता था कहां जाता था उसकी गतिविधि जानने की शक्ति किसी को न थी। केवल भूख लगने पर घर आता था और खाना कर कहां चला जाता था, इसका किसी को पता नहीं था। जवान पत्नि से उसका आकर्षण नहीं था। यदि कदाचित् घर पर ठहरता, तो भी वह थोडी देर के लिये भी आवश्यकता के बिना किसी से कभी वार्तालाप नहीं करता था। जैसे अपने आप सदा ही कुछ सोचता रहता हो। सब लोग समझते थे कि राम आधा पागल है, इस लिये उस को सब पागल राम कहकर पुकारा करते थे। उसने आज सायंकाल घर आकर मां से खाने को मांगा तो मां ने दुःख भरे चित्त से कहा, कि इतना बड़ा होगया है परन्तु अब तक भी बुद्धि नहीं आई। कुछ लिखना पढ़ना भी नहीं सीखा,

संसार की कुछ भी खबर नहीं। यदि राजा को तुम्हारे पिता शान्ति न देसके तो आज से सातवें दिन रात्रि को उनका शिर कटवा दिया जायगा, तब क्या खावोगे। तुम्हारी उमर का लड़का होते आज हमको इतनी चिन्ता ! माता के मुख से पिता को प्राणदण्ड की बात सुन कर पागल राम मां से बोला " मां तुम को इस बात के लिये इतनी चिन्ता क्यों ? मैं राजा को निश्चय ही शान्ति दूंगा, तुम चिन्ता मत करो। मैं अभी राजमहलों में राजा के पास जाता हूं। पागल राम की बात सुनकर मां के मन में अधिक चिन्ता हुई कि न जाने पागल इस दुःख के ऊपर और क्या दुःख का कारण उपस्थित करेगा। मां पागल की बात सुन कर कहने लगी 'बेटा, घाव पर नमक मत छिड़को, तुम्हारे पिता इतने बड़े पण्डित हैं, वे तो राजा को शान्ति दे न सके और तुम क्या एक मूर्ख और फिर आधे पागल राजा को शान्ति दे सकोगे ? मां की बात सुन कर पागल ने कहा 'मैं अवश्य ही सात दिन के भीतर राजा को शान्ति दूँगा और पिता की प्राणरक्षा करूंगा।' यह कह कर पागल भोजन करने बैठगया और खा पीकर कपड़े पहिन राजधानी को चल दिया। पागल राम की इच्छा का विरोध करने की किस में शक्ति थी, उसको जाने के लिये उद्यत देख कर उसके माता पिता ने समझा, न जाने और क्या विपद आने वाली है और बार २ जाने को निषेध करने लगे। परन्तु पागल राम अधिक कुछ भी सुनने वाला कब था। राजा को शान्ति देकर पिता की प्राण रक्षा करना और मां का संतोष संपादन करना है इस लिये आज कुछ भी हो

राजमहलों में जाना ही चाहिये और राजा को किसी प्रकार भी शान्ति देनी ही चाहिये, ऐसा मन में स्थिर करके वह शीघ्र गति से चलने लगा। राम पागल है, उससे यह बात कहना ठीक नहीं था, न जाने राजमहलों में जाकर क्या अनर्थ करेगा, एक दुःख के ऊपर दूसरा दुःख खड़ा न करदे, इत्यादि सोचती हुई उसकी मां गहरी चिन्ता में डूबगई। एक ओर पति का जीवन-नाश होगा इसी चिन्ता में अशान्त थी, भूख नहीं, नींद नहीं, तिस पर यदि पागल ने राजमहलों में जाकर कुछ अनर्थ कर डाला, हाय! तब न जाने हमारे अदृष्ट में और क्या दुःख बदा है, ऐसी ही चिन्ता करती २ अपने भाग्य को धिक्कारने लगी। इधर पागलराम राजमहलों में पहुंचा। सब जानते थे कि पागलराम राजगुरु का पुत्र है इसलिए पहिरेदार और द्वारपालों ने उसके अन्तः पुर में प्रवेश करने में बाधा नहीं की पागल राम जिस स्थान पर राजा थे एक दम सीधा उसी स्थान में जा पहुंचा। गुरू-पुत्र को देखते ही राजा ने प्रणाम किया और ऐसे असमय आने का कारण पूछा। पागल राम ने कहा 'राजन्! मैं आपको शान्ति दिलाने आया हूँ। यदि आपको शान्ति मिल जायगी तो क्या आप मेरे पिता की प्राण रक्षा करेंगे? यदि आप जो कुछ मैं कहूँ उसको बिना तर्क पालन करना स्वीकार करलेंगे तो मैं आप को शीघ्र ही शान्ति प्रदान कर दूँगा। पागल की बात सुन कर राजा ने कहा हे गुरु पुत्र! हमको शान्ति दिलाने के लिये आप जो कहेंगे उसको मैं निर्विवाद पालन करने को सदा प्रस्तुत हूं और आप के द्वारा यदि मेरे दुःख पूर्ण हृदय में शान्ति होगई

तो आप के पिता भी जीवन दान पावेंगे। अब आज्ञा करें फिर हमको क्या २ सामग्री संग्रह करनी चाहिये। पागल ने कहा 'राजन्! सामग्री तो कुछ लगेगी नहीं, केवल दो टुकड़े चौदह पन्द्रह हाथ लंबे रस्सी के लगेंगे। राजा रस्सी का नाम सुन कर अवाक् रह गया, परन्तु जो हो शान्ति के प्यासे राजा ने एक नौकर को रस्सी लाने का हुक्म दिया, वह सामने लाकर उपस्थित हुआ, तब पागल राम बोला राजन्! हमारे पिता को बुला भेजिये, उनको भी यहां उपस्थित होना पड़ेगा। पागल के कहने के अनुसार राजा ने गुरुदेव को बुलाने के लिये एक आदमी भेजा। राजदूत से संवाद पाकर भय से राजगुरु के प्राण उठने लगे और शरीर थर थर कांपने लगा, और नाना प्रकार के संशयों से व्याकुल होकर सोचने लगा, कि पागल राम ने जाने क्या अनर्थ घटाया है, जो इस समय राजा ने हम को बुलाया है। जो हो! राजा के आदेश के अनुसार वह राजमहलों में पहुंच कर राजा से मिले, राजा ने गुरुदेव को देखते ही यथा योग्य प्रणाम करके कहा 'आज हमारे गुरु भ्राता राम हमको शान्ति प्रदान करेंगे। उनके आदेशानुसार ही आपको बुलाया गया है। पिता के आजाने पर पागल राम ने कहा 'राजन्! मेरे साथ आप दोनों चलें, हमारे तीनों के सिवाय अन्य कोई भी हमारे पास नहीं रहेगा और न साथ चलेगा। राजा इस बात से सहमत हो गया, और फिर पागल राम के साथ उसके कथनानुसार राज गुरु को साथ में लेकर चल पड़ा। चलते समय पागल राम रस्सी के दोनों टुकड़े लेना नहीं भूला। रस्सी के दो टुकड़े

साथ ले चलते देख कर राम के पिता के नेत्रों के तारे स्थिर हो गये, देखने से जान पड़ता था मानों निर्जन स्थान में हम लोगों को ले जाकर वह बांध कर मार डालेगा। परन्तु राजगुरु क्या करते? राजा जब शान्ति पाने का प्रार्थी है, ऐसे समय कोई बात विरुद्ध कहने से, यदि राजा ने उसको न माना तो अपना ही अपमान होगा और लांच्छन लगेगा, ऐसा सोच कर मन के संकल्प को जल तरंग के जल में लीन होने के सदृश, मन में ही लीन कर दिया। वे तीनों राज महलों से निकल कर राजधानी के समीप एक जंगल में पहुंचे। गहरे बन में जाकर पागल राम ने राजा से कहा, मैं यहां जो करूं वह आप दोनों को मानना पड़ेगा, यदि मेरी बात में बाधा डालोगे तो शान्ति किसी प्रकार नहीं मिलेगी, यह निश्चय जान लो। राजा के कहने पर 'ऐसा ही होगा' पागल राम रस्सी के एक टुकड़े को हाथ में लेकर राजा के हाथ पैर बड़ी होशियारी से बांधने लगा और उस को बाँध देने के पश्चात् दूसरा टुकड़ा लेकर पिता के सन्मुख पहुंचा। इधर राजगुरु राजा को बंधते देख अपना पूर्व अनुमान ठीक उतरता समझ कर भय और चिन्ता से स्तम्भित होगये और सोचने लगे, हाय! एक मेरा ही जीवन नाश होता तो बहुत अच्छा था, अब तो सारे वंश का विध्वंस हो जायगा। यदि पागल हम दोनों को बांध कर मार डालेगा, तो राज दूतों से भेद लग कर पागल के साथ परिवार के सब लोगों के सिर तलवार की धार से कटवा दिये जांयगे। हाय! ऐसे कुपुत्र ने हमारे उर से जन्म लिया है, मैं कितना हत् भाग्य हूं। इसी तरह की

चिन्तायें कर के, अब क्या करना चाहिये, इस विचार से अत्यंत व्यग्र हो गया, इतनी देर में पागल राम ने सामने जाकर पिता के हाथ पैर भी कस कर बांध दिये, और अपने पिता से कहने लगा "पिता जी ! अब आप राजा को बन्धन से मुक्त करें।" इतनी बात सुन कर राजा एक दम अवाक् और हत बुद्धि होकर सोचने लगा, ऐसी तो गुरु पुत्र की बुद्धि है. इसी से यह हमको शान्ति देगा, क्या यह सम्भव हो सकता है ? राजा जब यह सोच रहे थे उस समय राज गुरु ने पुत्र से कहा, 'बेटा ! ऐसा करना कैसे सम्भव है, मैं स्वयं बन्धन में पड़ा हुआ राजा के बन्धन कैसे खोलूं ?' राजा भी गुरुदेव की बात सुन कर बोला, 'हां गुरुपुत्र ! यह कैसे संभव हो सकता है ? आपकी ऐसी बुद्धि ठीक नहीं है। राजा की बात सुन कर पागल ने कहा 'राजन् ! देखिये ! बन्धन कैसे खोला जाता है।' ऐसा कह कर उसने पिता और राजा दोनों के बन्धन खोल दिये, और कहने लगा, हे राजन् ! जो स्वयं मोह पाश में बंधा हुआ है, जिसकी अनित्य देहादि में मैं और मेरे पन की बुद्धि नष्ट हुई है, जो स्वयं गुरु शक्ति प्राप्त करके गुरु पदवी पर आरूढ़ नहीं हुआ है, और जो अविद्या रूपी अंधेरे में पड़ा हुआ स्त्री पुत्र और पशु इत्यादि हजारों विषय तृष्णा द्वारा संतप्त है, वह किस प्रकार दूसरों के मोह पाशों को काट सकता है ? और दूसरों की नित्य शान्ति प्राप्त करनेकी पियास बुझा सकता है ? हे राजन् ! श्रुतिका वचन है कि तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेने पर शाश्वत शांति स्वरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है और उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रोत्रिय

और ब्रह्मनिष्ट गुरु के पास जाना पड़ता है। हे राजन्! जिसने स्वयं किसी वस्तु का अनुभव नहीं किया है वह दूसरों को कैसे उसका अनुभव करा सकता है? उसने कितने ही शास्त्रों का अध्ययन द्वारा पाण्डित्य क्यों न प्राप्त किया हो, उसका समस्त ज्ञान परोक्ष ही है, सुतरां इस प्रकार के परोक्ष ज्ञानी के उपदेश से शिष्य के हृदय में परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है.परन्तु जिस से शान्ति अथवा निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होती है उस अपरोक्ष ज्ञान का प्रकाश नहीं होता और हो भी नहीं सकता है। इस लिये गुरु के केवल शास्त्रज्ञ होने से काम नहीं चलता, उनका अनुभवी भी होना बिलकुल आवश्यक है। जिसको परोक्ष ज्ञान के साथ २ अपरोक्ष ज्ञान भी है ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाना चाहिये। तन्त्र शास्त्रों में लिखा है कि जब गुरु शिष्य में शक्ति संचार करते हैं तब वह अनुग्रह लाभ करने में समर्थ होता है अर्थात् उसको अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने की योग्यता होती है, जिस से निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जहां श्री गुरु द्वारा शक्तिपात नहीं होता, वहां सिद्धि अथवा शान्ति लाभ की आशा नहीं। हे राजन्! स्त्री में वीर्य दान हुये बिना क्या पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है? फिर भी यदि स्त्री ऋतु मती न हो तो क्या वीर्य दान होने से भी पुत्र उत्पन्न हो सकता है? स्त्री के ऋतुमती होने पर वीर्य दान किये जाने से जैसे पुत्र उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के लिये और शान्ति लाभ के लिये शिष्य में व्याकुलता भी चाहिये और श्री गुरु का शक्ति पात भी होना चाहिये। जैसे स्त्री के मन में ऋतुमती होने

पर स्वामी के संग सहवास करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, वैसे ही शान्ति प्राप्त करने की व्याकुलता उत्पन्न होने पर किस के पास शान्ति प्राप्त करने जाना चाहिये, कौन हमारे संतप्त हृदय को शीतल कर सकेंगे, किस के श्री चरणों में आश्रय लेने से दुःख दूर होगा, इत्यादि विचार करके श्री गुरु का सत संग करने की इच्छा होती है। हे राजन् ! आपके हृदय में शान्ति पाने के लिये व्याकुलता उत्पन्न हुई है परन्तु जो गुरु रूप से आपके सामने उपस्थित हैं, वे उस वीर्य अर्थात् शक्ति पात द्वारा आप में ज्ञान रूपी पुत्र उत्पन्न कर सकें, इतनी सामर्थ्य उनमें नहीं है, इस लिये आपको भी अशांति है और हमारे पिता भी अशांत हैं। राम के पिता के हृदय में, जो राम को इतने दिन तक पागल समझते थे, आज पुत्र के मुखसे इतना गंभीर तत्त्वोपदेश सुन कर, आनन्द धारा का प्रवाह वहने लगा, वे अपने को धन्य समझने लगे और राजा भक्ति से गद २ हो कर नयनों में प्रेमाश्रु भर कर गुरु पुत्र के चरणों में पृथ्वी पर गिरकर, दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा, 'हे गुरुपुत्र, आप वास्तविक तत्त्व दर्शी और तत्वज्ञानी हैं, आप ही मेरा भ्रम दूर करने और शांति देने में समर्थ होंगे। आप मेरे हृदय को शान्ति प्रदान कर इस अशान्त हृदयको शीघ्र शांत करें। मैं आपके ही चरणों में शिष्य भाव से शरण लेता हूं।' राजा की बात सुन कर राम ने कहना आरम्भ किया कि 'हे राजन् ! मैं ने जिनके पास योग साधन प्राप्त करके ज्ञान पाया है, वे इस समय जीवित हैं। वे साक्षात् शिव तुल्य महापुरुष हैं महा ज्ञानी और

महान् योगेश्वर हैं, उनकी आज्ञा के बिना मैं अभी कुछ नहीं कर सकता, कल उनके चरणों में उपस्थित हो कर सब निवेदन करूंगा, और उनकी आज्ञा लेकर आपको शान्ति के लिए शक्तिसंचार करूंगा। आपने मन्त्र ग्रहण किया हुआ है, दूसरा मन्त्र लेने की आवश्यकता नहीं है। हे राजन्! सब मन्त्रों में एक ही अखण्ड चैतन्य स्वरूप वस्तु है और सारे मन्त्रों में एक ही चित्शक्ति वर्तमान हैं, वह ही योगियों की आराध्याभक्ति मुक्ति, और तारनदायिनी कुण्डलिनी शक्ति है। हे राजन्! सब मुझको पागल समझते हैं मेरे जन्म-जन्मान्तर के बड़े पुण्य प्रताप से मुझको साक्षात् शिव-स्वरूप गुरु मिले हैं, उनके प्रसाद से आज मुझको मोह नहीं रहा है, देह से आत्मबुद्धि नष्ट हो गई है, सदा अपने आत्म भाव में अपनी स्थिति रखता हूं इसकी दृष्टि से सारे जगत् को देखता हूं, सारा दृश्य मुझे ब्रह्ममय दिखता है। ब्रह्म के सिवाय मुझे और कुछ दृष्टि नहीं पड़ता अर्थात् सर्वत्र ही ब्रह्मदृष्टि हो गई है। अपने आप में स्थित रहता हूं इसलिए सब मुझको देखते और सोचते हैं कि मैं पागल हूँ बहुत छोटी उमर में इन गुरु का साक्षात् हो गया था और उनकी मुझ पर तब ही कृपा हो गई थी। वे यहां से थोड़ी दूर पर जंगल में रहते हैं। मैं प्रतिदिन दोनों समय भोजन करके सेवा करने जाता हूं और उनके पास जाकर उनके श्री चरणों की सेवा करता हूँ और अपना साधन करता हूं। अपने विवाह के पश्चात् अपनी स्त्री को भी श्री गुरु की आज्ञानुसार दीक्षा दिला दी थी। हम गुप्त

रूप से अपना साधन करते हैं, परन्तु आज पर्यन्त हम को कोई नहीं जानता और मेरी स्त्री भी गुप्त रूप से साधन करती है उसको भी कोई नहीं जानता है। हे राजन्! अपने पिता के प्राणों की रक्षा करने के लिये और आप को शान्ति दिलाने के लिये आज मुझको अपनी यह गुप्त बात प्रकट करनी पड़ी है। राम की बातें सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कहने लगा 'हे गुरु पुत्र! आज मैं धन्य हूं और कृतार्थ हुवा हूं कि आप जैसे महान् योगी और महा ज्ञानी के श्रीचरणों का आश्रय मिला है, महापुरुष यदि अपना निज स्वरूप व्यक्त न करें तो किसके वश की बात है कि उन को पहिचान सकें। श्रुति का वचन है 'ब्रह्मज्ञानी बालक उन्मत्त, पिशाच और जड़वत् रहते हैं। वे कृपा करके अपना परिचय स्वयं न दें तो उन को माया विमूढ लोग नहीं जान सकते कि ये महापुरुष हैं। महापुरुष का आश्रय मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषों की शरण ये तीनों वस्तु संसार में दुर्लभ हैं। श्री भगवान की कृपा के बिना ये मिलनी अत्यन्त कठिन हैं। राजा की बात समाप्त होने पर राम अपने गुरु के स्थान को चला गया! और श्री गुरु महाराज से सब वृत्तान्त निवेदन करने पर श्री गुरु ने उस को राजा में शक्तिसंचार करने तथा योग और ज्ञानोपदेश करने के लिये प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा देदी। राम ने यथा समय राजधानी में वापिस आकर राजा के पास जाकर उन पर शक्ति पात किया। राजा में शक्ति संचार होते ही वह आनन्द से भरपूर होने लगा और उस की आंखों से आनन्दाश्रु बहने

लगे। राजा कुछ क्षण उस भाव में भावसमाधिस्थ अवस्था में निष्पन्द भाव से बैठे रहे, फिर बाह्य संज्ञा आने पर उन के सारे अंगों में कंप और पुलकादि होने लगे। राजा भक्ति और प्रेम से गद् २ होकर श्री गुरु पुत्र के चरणों में गिरकर भावावेश से रोते २ कहने लगा 'हे गुरु देव ! आप की कृपा से आज हम को इस अपूर्व आनन्द का लाभ हुवा है, हमारा उद्धार करने के लिये ही भगवान गुरुमूर्ति से अवतीर्ण हुवे हैं, हमारे लिये आप ही श्री भगवान हैं। शास्त्रों में पढा है कि हजारों पूर्व जन्मों में बड़ी भक्ति और वेदविहित कर्मानुष्ठान द्वारा श्री भगवान की आराधना करने पर भक्तवत्सल श्रीभगवान अपने भक्तों की उपासना से संतुष्ट होकर श्री गुरुमूर्ति धारण करके भक्तों पर प्रत्यक्ष होते हैं और श्री गुरु रूपधारी श्री भगवान करुणापूर्वक तत्व का सम्यक उपदेश करके भक्तों को संसाररूपी दुःखमय सागर से उद्धार करते हैं और शान्ति प्रदान करते हैं । अहो ! मैंने सैकड़ों पूर्वजन्मों में जो सामान्य पुण्य कर्म किये हैं, आज आपकी कृपा और आपका साक्षात्कार उनका ही फल है। मेरे ऊपर कृपा करके आपने मेरा अविद्यान्धकार से उद्धार किया है और यथार्थ गुरु का नाम सार्थक किया है। 'गु' = अंधकार 'रु' = प्रकाश के द्योतक है, अविद्यारूपी अंधकार से जो प्रकाश में लाता है वह ही गुरु है। श्री गुरु और शिव में कोई अन्तर नहीं। शास्त्रों का प्रमाण है कि शिव ही साक्षात् गुरु हैं और गुरु ही स्वयं शिव स्वरूप हैं। जो मुमुक्षु हैं उनको इन दोनों में भेद बुद्धि नहीं रखनी चाहिये।' राजा की सात्विक

अवस्था देख कर और भक्ति से भरे यथार्थ वचन सुन कर राम आनन्दित होकर बोला 'राजन्! तुम धन्य और कृतार्थ हो। बड़े आनन्द का विषय है कि आज शिवजी की कृपा से आपको आनन्द की प्राप्ति हुई। आपके ऊपर शिवजी का अनुग्रह है इसलिये आप राज्यभोगों से वितृष्ण होकर नित्यशाश्वत शान्ति के प्रार्थी बने हो। शास्त्रों में लिखा है कि 'शिवजी की कृपा के बिना सिद्धि नहीं होती, शिवजी के अनुग्रह के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, शिवजी के अनुग्रह के बिना योग साधन भी नहीं मिलता और शिवजी के प्रसाद के बिना मुक्ति भी नहीं मिलती। शिवजी के अनुग्रह से शुकादि मुनिगण आशक्ति छोड़ कर संसार के बंधनों से मुक्त हुए हैं। अनेक जन्मों के किये हुए पुण्यादि के अनुष्ठान और भक्ति द्वारा उनकी कृपा का लाभ होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे राजन् वास्तव में अनेक जन्मों के पुण्यों के प्रताप से श्री भगवान की कृपा से आपको विवेक बुद्धि का उदय हुआ है और नित्य शाश्वत शान्ति स्वरूप परमार्थ तत्व को जानने के लिये इतने उद्योगी हुए हैं। शिवजी की कृपा से आपको यह साधन मिला है, भक्ति और श्रद्धा के साथ इसका अनुष्ठान करें, इससे आपको निरवच्छिन्न आनंद और शान्ति रूपी मोक्ष की उपलब्धि होगी। राम की बात समाप्त होने पर राजा ने विनय और नम्रतापूर्वक कातर स्वर से प्रार्थना की, कि हे प्रभो! आपने जैसे मुझको शान्ति प्रदान की है, उसी प्रकार अपने माता पिता को भी शान्ति के अधिकारी बनाओ। इसके उत्तर में राम ने कहा,

हे राजन्! हमारे माता पिता पर हमारे गुरुदेव स्वयं कृपा करेंगे, आप इस बात के लिये निश्चिन्त रहें। ऐसा कह कर राम अपने पिता के संग बड़े उल्लासपूर्वक घर लौटे। राम के पिता के मुख से राम की माता सब बातें सुन कर आनंद से अधीर हो उठी और इतने समय तक जिस पुत्र को पागल समझती थी, आज पति के मुख से उसके ज्ञान और गुणों का परिचय पाकर राम को एक सिद्ध और जीवनमुक्त महापुरुष मानने में उसको कोई सन्देह नहीं रहा। राम ने इसके पश्चात् अपने श्री गुरुदेव को अपने घर पर बुला कर अपने माता पिता पर अनुग्रह करने के लिये प्रार्थना की। राम के गुरु अरण्यवासी सन्यासी थे, महा तेजपुंज आकृतियुक्त उनकी सौम्य मूर्ति को देखकर किसका चित्त भक्ति से आकृष्ट नहीं होता था? राम के माता पिता ने श्री गुरु के दर्शन मात्र से ही भक्ति से गद् २ होकर भूमि पर दण्डवत् पड़कर उनके श्री चरणों में प्रणाम किया और कातर भाव से श्री चरणों के आश्रय और कृपा के लिये प्रार्थना की। श्री गुरुदेव ने भी उनकी प्रार्थनानुसार उन पर शक्ति संचार करके अपूर्व शान्ति पाने का अधिकारी बना दिया। श्री गुरु के शक्तिपात करने मात्र से ही राम के माता पिता निश्चल और निष्पन्दवत् आसनों पर बैठे रह गये, उनकी श्वास प्रश्वास की गति का अवरोध हो गया और भीतर ही भीतर उन में एक अपूर्व आनन्द की लहर का प्रवाह होने लगा। शक्ति पात होने पर दोनों अनुभव करने लगे मानो उनके शरीर में बिजली दौड़ रही है, सारा शरीर मानो झिन २ करके

शिथिल हो गया है, बहिर्मुखी चित्त बाहर के शब्दादि विषयों का त्याग करके अन्दर की ओर नाम के प्रवाह में तन्मय होना चाहता है। राम के माता पिता आज गुरु कृपा से आनन्द में मतवाले होकर प्रेम में उन्मत्त हो गये हैं। संसार की चिन्तायें जो चिता की अग्नि के सदृश उनके चित्त को निशि दिन जलाती रहती थीं, वह आज पुत्र के कारण श्री गुरुप्रसाद से शान्त हो गई हैं। राम के माता पिता आसनों से उठ कर श्रीगुरु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके प्रेमाश्रु बरसाते हुये प्रार्थना करने लगे 'हे गुरु देव ! हे भगवन् ! आप ही हमारे एक मात्र आश्रय आप ही हमारी एक मात्र गति, आप ही हमारे एक मात्र पिता, और आप ही हमारी एक मात्र माता हो, आज आपके प्रसाद से यह मनुष्य जन्म सफल हुआ और हम कृतार्थ होगये। हमने न जाने पूर्व जन्म में क्या पुण्य कर्म किया था, अनेक जन्मों के पुण्य प्रताप से श्री भगवान आज श्री गुरु मूर्ति धारण करके हमारे सन्मुख आ उपस्थित हुये हैं। आपको दक्षिणा में और क्या देवें आज से हमारा यह देह और आत्मा हमारे चित्त और पुत्रादि सब हम श्री चरणों में अर्पण करते हैं, कृपा पूर्वक ग्रहण करके कृतार्थ करें। इतना और करें। हे प्रभो ! कि आज से हम लोगों का मिथ्या मैं और मेरे पन के अभिमान के स्थान पर सदा श्री गुरु विराजमान होवें। श्री गुरु ही हमारी आत्मा हैं और यह सब कुछ उन ही का है, ऐसी बुद्धि सदा बनी रहे। यदि कृपा की है तो, हे प्रभो ! इतना भी करें कि जिस से अब किसी प्रकार मोह में न पड़ें। श्री गुरु देव भी उन

को आशीर्वाद देकर भोजनोपरांत अपनी कुटी को चले गये। इस प्रकार राम अपने माता पिता और स्त्री के सहित परमानंद में मग्न हो कर अपने परिवार को श्री गुरु का ही परिवार मान कर सेवक वत् संसार यात्रा निर्बाह करने लगा। उसका गृहस्थ आज संसार पद वाच्य नहीं रहा वरन् स्वर्ग की अपेक्षा भी अधिक सुखमय स्थान बन गया। स्वर्ग में भी हिंसादि हैं किन्तु आज इस गृहस्थ में हिंसा द्वेषादि लेशमात्र भी नहीं रहे। सबही सद् बुद्धि हो कर आत्म स्थिति प्राप्त करके अपने २ कर्तव्य कार्यों में रत रहने लगे। नित्यानित्य वस्तु विवेक द्वारा जिनको इस संसार के यावतीय भोग पदार्थ सब के प्रति अनित्यता का बोध होने से वितृष्णा उत्पन्न हो गई है, और तो क्या स्वर्ग के सुख भोगों को भी अनित्य समझ कर, उनके पाने की इच्छा नहीं रही है, उनके मनों में नित्य शाश्वत शान्ति की पाने की पिपासा दृढ़ रूप से जागृत होती है और जब तक सद्गुरु की कृपा से शक्ति संपुटित मंत्र और नाम की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उनकी उक्त पियास की शान्ति किसी वस्तुसे भी शान्त नहीं हो सकती। एक मात्र श्री गुरु प्रदत्त शक्ति संपुटित मंत्र अथवा नाम के द्वारा ही इस पियास की निवृत्ति होती है और शांति मिलती है। कलियुग के मनुष्यों को भक्ति भाव से युक्त हो कर हरिनाम की आराधना के सिवाय दूसरा सहज मार्ग नहीं है। श्री गुरु की कृपा से उस पियास की शांति होने पर रामके सदृश आप भी नित्य तृप्त रहेंगे और अनित्य क्षणिक सुख आपको फिर मोह में मत्त नहीं कर सकेंगे।

६३—कलियुगी शिष्य कैसे होते हैं, जानते हो ? श्रीगुरु का आश्रयलेकर भी जिन को न तो उनमें भक्ति होती है न श्रीगुरु वाक्यों में विश्वास ही है और अपने मन में सोचते हैं कि हमारे सदृश ज्ञानवान दूसरा और कोई नहीं है, यहां तक कि श्रीगुरु देव भी उनके सदृश ज्ञानीं नहीं हैं, ऐसे अभिमानी व्यक्ति ही कलीयुगी शिष्य हैं कलियुगी शिष्य सोचते है कि जब मंत्र मिल-गया, तो यह देह शुद्ध होगया, अर्थात् पशुत्व का संहार होगया, अब आगे जप तप करने की और नियमादि पालन करने की आवश्यकता नहीं रही, उनको यह ज्ञान नहीं, कि केवल मंत्र लेनें से पशुत्व दूर नहीं होता। जो मोह के पाश में वंधे हैं वे ही पशु हैं। पशुत्व दूर होता है आत्मबोध द्वारा आत्मबोध अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये ही गुरु किया जाता है, इतना भी वे नहीं जानते। वे लौकिक विषयों के ज्ञान को बड़ा समझते हैं। दूसरों को ठगने से, कुतर्क द्वारा दूसरों को चुप कर देने से, और मिथ्या प्रवचनादि द्वारा जनता को वहका लेने से; अपने को बड़ा वुद्धिमान समझने लगते हैं। गुरु की सेवा के लिये अथवा साधु सेवा के लिये और भजन पूजनादि अच्छे कर्मों में थोड़ा भी धन व्यय हो जाने से उनको अत्यन्त कष्ट होता है। यदि उनका धर्म के कर्मों में एक पैसा भी खर्च न हो, किसी प्रकार विशेष साधन भजन भी न करना पड़े, केवल अपनी इच्छा नुसार व्यभिचार, अनाचार और भोगविलास में मस्त पड़े रह सकें और गुरुदेव यदि कहदें कि तुम को कोई चिन्ता नहीं, तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो, तब ही वे गुरु भक्ति दिखाते हैं, परन्तु वह भी क्षणिक,

और अपनी रुचि की अनुकूलता के कारण वे देह सुख की प्राप्ति में व्यस्त रहते हैं परन्तु मानसिक सुख शान्ति कैसे मिले, उस की प्राप्ति की ओर किञ्चिन्मात्र भी लक्ष्य नहीं देते। स्वयं तो कुछ भी नहीं करेंगे, और करेंगे क्या ? लोक निन्दा, साधुनिन्दा और तो क्या गुरु निन्दा पर्यन्त करने में उनको संकोच नहीं होता। श्रुति स्मृति और पुराण तन्त्रादि शास्त्रों में जो श्री गुरु में ईश्वर बुद्धि रखने को कहा गया है उसको सुनकर कहते हैं कि यह बात गुरु की मर्यादा बढ़ाने के लिये और शिष्यों से सेवा लेने के लिये लिखी गई है। श्रीगुरु के चरणोदक पान करने की विधि भी शास्त्रों में है, परन्तु वे लोग श्रीगुरु के चरणामृत को कहते हैं–चमड़ा धोया हुवा जल. श्रीगुरु के प्रसाद को कहते हैं-झूंठन, ऐसे कलियुगी शिष्य नहीं जानते कि श्री गुरु की करुणा की आवश्यकता क्या है, श्री गुरु का स्वरूप क्या है और श्री गुरु और शिष्य में सबंध क्या है ? जिस स्थान पर श्री भगवान के राम और कृष्ण अवतार, भरद्वाज, व्यास और वशिष्ठ आदि मुनि, शुकदेव वामदेव जैसे ब्रह्मवेत्ता वरिष्ठ परम हंस, और वर्तमान युग के भी श्री भगवान जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री चैतन्य-महाप्रभु श्री रामानुज आदि आचार्य अपने २ गुरुओं को प्रत्यक्ष देव भाव से पूजन वन्दनादि करते थे और श्रुति स्मृति आदि शास्त्रों में भी जो श्री गुरु को परमात्मा परमदेव सदृश भक्ति करने, उनका अनुसरण करने, और उनका आदेश मानने का उपदेश किया गया है, उसी स्थान पर गुरु देव की पूजा करने और भक्ति करने की आवश्यकता कलियुग के शिष्य नहीं जानते

श्री गुरु की निन्दा करना और उनमें दोष देखना ही उन की गुरु पूजा है। कलियुगी शिष्य चाहते हैं कि उनका सन्मान करें, उन की प्रशंसा करें, सैंकड़ों अपराध करने पर भी उन का शासन न करें। वे जो बात अच्छी समझते हैं, गुरु उस का अनुमोदन करते रहें और वे शास्त्र विरुद्ध अभक्ष्य भक्ष्यादि जो खाना चाहें उस में बाधा न डालें। घोर तमोगुणी शिष्य ही कलियुगी शिष्य हैं। तुम कलियुगी शिष्य मत बनो, सत्वगुणी शिष्य बनो, कहा है कि—

गुरु मिलें लाख लाख, चेला मिलहि ना एक।

६४—किस की इच्छा से प्रेरित होकर तुम्हारा मन अपने विषयों का मनन करता है? किस की शक्ति से तुम्हारे प्राणोच्छ्वास चलते हैं? किसकी इच्छा से प्रेरित होकर तुम शब्दों का उच्चारण करते हो? और कौन देवता तुम्हारे चक्षु और कर्णों को अपने २ विषयों रूप और शब्द की ओर प्रेरित करते हैं? क्या तुम जानते हो कि वह ही तुम्हारी अहम् बुद्धि का आश्रय नित्य निरवयव स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म है? जिसके ही प्रकाश से तुम्हारी श्रवणेन्द्रिय प्रकाश पाती हैं अर्थात् अपने विषय शब्द को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं, इस लिये वह श्रोत्र का भी श्रोत्र है, उस ही ब्रह्म ज्योति से प्रकाशित होकर मन अपने संकल्पादि विषयों का मनन इत्यादि कार्य करने में समर्थ होता है, इसलिये वह मन का भी मन है, जिसके द्वारा प्राण भी प्रेरित होता है अथवा जिसकी प्राणों में स्थिति होने से प्राण ऊर्ध्व और अधो भाग में आने जाने में समर्थ होते हैं, जो प्राणों में

स्थित है इस लिये जीव प्राण धारण कर रहे हैं और जीवित हैं और जो प्राणों में स्थित है इसलिये रसनेन्द्रिय रसास्वाद और घ्राणेन्द्रिय गंध ग्रहण करती हैं। इसलिये वह प्राणों का भी प्राण है। और जिसकी ज्योति से चक्षु रूप प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं इसलिये वह चक्षु का भी चक्षु है। जैसे सूर्य के प्रकाश में सब अपना २ काम करने में लगे रहते हैं उसी प्रकार स्वसंवेद्य ब्रह्म ज्योति से प्रकाशमान हो कर मन, प्राण, और इन्द्रियां सब अपने २ विषयों में लगे रहते हैं। वह ब्रह्म ही तुम्हारे जानने की वस्तु है और वह ही जिज्ञासा का विषय है। उल्लू जैसे प्रकाश मान सूर्य को नहीं देख सकता, अन्धकार अनुभव करता है, उसी तरह मनुष्य स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म को अज्ञान के कारण नहीं जान पाते, इसी लिये इन्द्रियों में से आत्म बुद्धि का त्याग नहीं होता। जिन लोगों को श्रीगुरुकृपावलब्ध जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान के उपदेश द्वारा श्रोत्रादि स्वरूप ब्रह्म को आत्म स्वरूप जानने का अनुभव हो गया है, उनकी इंद्रियों में आत्म बुद्धि नहीं रहती, वे ही यथार्थ सद्बुद्धि संपन्न मुक्त पुरुषों की उपाधि के योग्य हैं। यदि अमृततत्व को प्राप्त करना चाहते हो तो परमेश्वर ने जिन इंद्रियों को बहिर्मुख करके सृष्टि की रचना की है, उन बाह्य दृष्टि आदि इंद्रियों को अन्तर्मुखी करने का अभ्यास करो। श्री गुरु की कृपा से मन सहित इंद्रियों के अन्तर्मुखी होने पर अंतरस्थ आत्म-ज्योति की स्वतः ही उपलब्धि हो जाती है।

६५—ध्यान में बैठने पर मन ध्यान में क्यों नहीं लगता ? पांच इंद्रियों की पांच वासनायें हैं मन जब पांचों वासनाओं को

छोड़ कर एक ईश्वर मुखी होता है तब ध्यान में लगता है और एकाग्र हो जाता है। मन का प्रवाह दो ही दिशाओं में होता है एक तरफ विषय वासनाओं की ओर और दूसरी तरफ ईश्वर अथवा आत्मा की ओर। शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये ही पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच ग्राह्य विषय हैं। कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका ये तत्संबंधी पांच ज्ञानेन्द्रियां है। एक ही मन रूप नदी के मानो दो प्रवाह हैं एक तो अविवेक के मार्गका अवलंवन लेकर नीचे अर्थात् विषयोंकी ओर प्रवाहित होता हैं और दूसरा विवेकके मार्ग का अवलंबन लेकर उर्द्धगामी ईश्वर अर्थात् आत्मा की ओर प्रवाहित होता है। एक स्रोत वाली वेगवती नदी से यदि पांच नहरें काट ली जायं, तब जैसे उसका वेग कम हो जाता है, वैसे ही मन के पांच दिशाओं में बंट जाने से उसमें एकाग्रता नहीं आती और वह ध्यान में नहीं लगता। विवेक और अभ्यास द्वारा मन की विषयमुखी गति को रोक कर अन्तर्मुखी करनी चाहिये। तब ही मन की अन्तर्मुखी गति बढ़ेगी, मन एकाग्र होगा और ध्यान जमने लगेगा। मन रूपी नदी में से पांच इन्द्रियां रूपी पांच नहरें हैं। इन पांच इन्द्रियों के द्वारा ही मन विषयमुखी होता है, श्री गुरु प्रदत्त अभ्यास और वैराग्य द्वारा श्री भगवान में मन एकाग्र होने पर और ध्यान जमने पर हंसना, रोना, अंग में कम्प और पुलक इत्यादि सात्विक विकारों का विकास होने लगता है।

६६—शम, संतोष, साधुसत्संग और विचार ये चार मोक्ष के द्वारपाल हैं। इन चारों में से किसी एक का अवलंब लेने

से मोक्ष के साम्राज्य में पहुंचा जा सकता है। उनमें से एक साधुसत्सङ्ग द्वारा शम, संतोष और सद्विचार आप ही चले आते हैं और स्वयं आ प्रकट होते हैं इसलिये साधु सत्सङ्ग सब में श्रेष्ठ है। एक क्षण के लिये भी यदि सत्सङ्ग हो, तो वह ही भवसागर से पार लगाने के लिये अकेला नौका स्वरूप हो जाता है। सत्सङ्ग का क्या फल है इस विषय पर एक सुन्दर कहानी कहते हैं, सुनो—

एक समय एक भौंरे के साथ एक गुबरेले की मित्रता हो गई। एक दिन भ्रमर ने गुबरेले भाई से कहा, 'बन्धुवर! तुम गोबर में रहते हो, दुर्गंध युक्त मल ही तुम्हारा आहार है और हम एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर घूम २ कर निर्मल मीठा मधु-पान करते हैं, अहा! उसकी सुगंध कितनी अच्छी होती है। हे भाई, यदि तुम एक वार उसका स्वाद चख लोगे तो तुमको उसकी सुगंध और मीठेपन का ज्ञान हो जायगा। तब गुबरेले ने अपने भाई भ्रमर से कहा, 'भाई! क्या मेरा ऐसा भाग्य है कि उसका स्वाद ले सकूंगा, विधाता ने मुझको जिस लिये बनाया है, मैं उसी में अच्छा हूं, मुझको उतनी उड़ने की शक्ति भी नहीं है कि तुम्हारे साथ जाकर मधुर मधु पान करके अपने प्राण तृप्त कर सकूं।' गुबरेले की यह बात सुन कर भ्रमर बोला, बन्धु! तुम इसके लिये दुःख मत मानो। तुमको जितना चाहिये मैं मधुपान कराऊंगा, ऐसा कह कर भ्रमर ने कहा कि तुम मेरी पीठ पर बैठ जाना, तुमको मैं पीठ पर बैठा कर जहां मधु मिलता है उस स्थान पर ले जाऊंगा।' इसके पश्चात् एक दिन

भ्रमर ने आकर कहा 'भाई ! चलो, आज तुमको मधु खिलाऊंगा, ऐसा कह कर वह गुबरेले को पीठ पर बिठा कर उड़ा और उसे एक कमल पर ले जाकर बिठा दिया, परन्तु बैठा देने से ही क्या होता गुबरेला, मधु कैसे खाया जाता है, यह तो जानता ही नहीं था, इसलिये वह चुपचाप कमल पर बैठा रहा, इधर रात्रि होने पर कमल बंद होगया और गुबरैले को भी अपने उदर में रख लिया। भ्रमर यथा समय जब घूम फिर कर आया तो देखा कि भाई गुबरैला नहीं है और इधर उधर तलाश करने पर भी उसको कहीं न पाकर बड़े दुःखित मन से अपने स्थान पर चला गया। उस समय शरद्ऋतु थी और राजगृह में दुर्गा पूजन का उत्सव मनाया जा रहा था, इसलिये राजगृह से एक ब्राह्मण बहुत सवेरे सरोवर पर कमल के फूल लेने आया और उसने और फूलों के साथ जिस फूल में गुबरैला था वह फूल भी तोड़ लिया और पूजा के फूलों के साथ में अन्य फूलों के साथ उसको भी सजा कर रख दिया। पुरोहित ने आकर पूजा आरम्भ की और पूजा के अंत में भक्ति से गद् २ होकर चंदन बेल पत्रादि के साथ वह कमल भी वेद मंत्र पाठ करते हुए मां के दाहिने चरण कमल पर उढ़ा दिया। आहा ! उस दिन सप्तमीका दिन था, भक्तिमान वेद पाठी पुरोहित कृत पूजन द्वारा सर्व-दुर्गति हारिणी, सर्व अशिव नाशिनी, ज्ञानदा भक्तिदा और मोक्षदा के पाद पद्म में जिसके चरणों को पाने के लिये त्रिलोकीनाथ, त्रिलोचन सब वासनाओं का त्याग करके शववत् पैरों के नीचे पड़े रहते हैं, जिस अभय पद को पाने के

लिये कितने योगीन्द्र मुनीन्द्र ऋषीगण चित्तवृत्ति निरोध रूप समाधि में रत रहते हैं, अथवा कोई सोऽहम् अर्थात् मैं वह हूँ इस प्रकार अभेद मूलक ज्ञान के विचार में सदा लगे रहते हैं और कोई जिसकी परानुरक्ति रूपा भक्ति के साथ उसके नाम और ध्यान में तन्मय रहते हैं, उन ही चरण कमलों में गोबर का कीड़ा जा पहुंचा। उसके दूसरे दिन सब पुष्पों के सहित वह पुष्प भी पतितपाविनी साक्षात् चित्स्वरूपा श्री भागीरथी गंगा की पवित्र धारा में फेंक दिया गया और चित्त स्वरूपा गंगा में उस गोबर के कीड़े का देह डूब कर वह कैलाश धाम पधारा। सत् संग की महिमा इससे देख लीजिये। एक गोबर का कीड़ा यदि भ्रमर के सत संग से इतना फल पा सकता है तो मनुष्य यदि साधु संग करे तो उसका फल और उसकी गति क्या होगी, यह एक बार विचार कर देखें। वैष्णव ग्रन्थावली में लिखा है—

साधु संग साधु संग सर्व शास्त्रे कय।
लवा मात्र साधु संग सर्व पाप क्षय॥

हिन्दी—साधु संग साधु संग सब शास्त्र कहें।
लव मात्र साधु संग होत पाप क्षय॥

बहुत जन्म जन्मान्तरों के सुकृतों के फल से साधु संग का लाभ होता है। साधुओं का हृदय श्री भगवान का प्रिय मन्दिर होता है। इस लिये साधुओं के दर्शन करना श्री भगवान के दर्शन करने के तुल्य है। महात्माओं का कथन है कि साधु गुरु और ईश्वर तीनों एक हैं। शास्त्रों का भी प्रमाण है कि ईश्वर

गुरु और आत्मा तीनों एक हैं केवल मूर्ति मात्र, का भेद है। जैसे राजा के अन्तः पुर में और बाहर रहने पर भी उसके रहने का एक विशेष स्थान होता है, वैसे ही श्री भगवान सर्वत्र सब भूतों में स्थित हैं तो भी उसकी लीला के प्रकाशित होने का विशेष स्थान साधुओं का हृदय होता है। आध्यात्म रामायण में लिखा है कि श्री रामचन्द्र पितृ वचन पालन करने के लिये सीता और लक्ष्मण के साथ बनवास के समय चित्रकूट पर्वत पर मुनि श्रेष्ठ बाल्मीक ऋषि के आश्रम में उपस्थित हुये, तब मुनि ने जगत पूज्य. राम का भक्ति पूर्वक सादर अर्घ्यादि द्वारा पूजन करके उनको मधुर फल मूल का भोजन कराया। भोजनोपरांत श्री भगवान रामचंद्र हाथ जोड़े खड़े होकर मुनि से कहने लगे कि 'हम पितृ आज्ञा पालन के लिये दण्डकारण्य में आये हैं। जिस स्थान पर हम सीता सहित सुख के साथ कुछ दिन निवास कर सकें ऐसा कोई स्थान बताइये।' भगवान रामचंद्र की बात सुन कर मुनि ने किंचित मुस्कराते २ कहा कि 'हे राम! आप सब लोकों के सर्वोत्कृष्ट निवास स्थान हैं और सब भूत भी आपके निवास स्थान हैं, ये हैं आपके साधारण निवास स्थान, परन्तु अब आपके रहने के विशेष स्थान कहता हूं, जिन स्थानों पर आप अपनी शक्ति सीता सहित सदा वास कीजिये। जो शांत, समदर्शी, किसी प्राणी से द्वेश नहीं करते और आपका नित्य भजन और उपासना करते हैं, उनके पवित्र हृदय मंदिर को ही आश्रय स्थान बनाकर सदा निवास करें। जो धर्माधर्म का त्याग करके एक मात्र मोक्षार्थ दिन रात, आपका भजन करते हैं और आप

का ध्यान करते हैं, हे राम ! उनका हृदय सीता सहित आपका सुख मंदिर बने। जो आपकी शरण में रह कर सदा आपके पवित्र मंत्र के जप में रत रहते हैं, निर्द्वंद अर्थात् सुख दुःख शीतोष्णादि द्वंद्वों के सहिष्णु हैं और किसी वस्तु विशेष में आशक्ति नहीं रखते ऐसे व्यक्तियों के हृदय में आपका सुख निकेतन हो। जो अहंकार रहित, राग द्वेष वर्जित, ईंट पत्थर और सुवर्ण आदि में सम बुद्धि हैं, उनके हृदय में आपका घर रहे। जो आपको मन बुद्धि अर्पण करके सदा सर्व विधि सब अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहते हैं और जिन ने सब कर्मफलों को आपके समर्पण कर दिया है उनके हृदय में आपका शुभ गृह हो। जो मनुष्य इस सब प्रपंच को माया निश्चित करके अप्रिय प्राप्त होने पर उससे द्वेष नहीं करते और प्रिय प्राप्ति में प्रसन्न नहीं होते केवल अपने आप में तन्मय रह कर आपका भजन करते हैं उनका मन ही आपका घर हो। जो जन्म मरणादि छः विकारों को देह के धर्म समझते हैं और उनको आत्मा के धर्म नहीं जानते, क्षुधा तृष्णा, सुख दुःख और भय को प्राण और बुद्धि के धर्म समझते हैं और संसार के धर्मों से जो मुक्त हैं उनका मन ही आपका निवास स्थान रहे। जो आपको सब का अन्तर्यामी, चैतन्य स्वरूप, सत्य अनन्त, निर्लिप्त, सर्वव्यापी और सर्व श्रेष्ठ जानते हैं उनके हृदय कमल में आप अपनी शक्ति सीता के साथ सदा वास करें। निरन्तर ध्यानाभ्यास द्वारा जिनका मन आप में भली प्रकार स्थिर हो गया है, जो आपके श्री चरण कमलों में सेवा परायण हैं और आपके नाम कीर्तन

द्वारा जिन के पाप ध्वंस हो गये हैं, उनके हृदय कमल में आपका घर हो। जिस साधु के हृदय में श्री भगवान रहते हैं, उस साधु की कृपा होने पर श्री भगवान की कृपा समझनी चाहिये। गीता में श्रीभगवान ने कहा है कि मैं वासुदेव हूँ जो ऐसा निरन्तर चिंतन करते हैं, अपनी आत्मा को ही वासुदेव स्वरूप समझते हैं ऐसे ज्ञानी सदा मुझ में युक्त रहते हैं, और मुझ से वे कभी पृथक नहीं होते। अपनी आत्मा से मुझ से वे कभी पृथक नहीं होते। अपनी आत्मा से मुझ वासुदेव को जो अभिन्न अनुभव करते हैं वे ज्ञानी मेरे आत्मा ही हैं। साधु की कृपा होने से भगवान की कृपा होती है और श्री भगवान की कृपा होने से साधु की कृपा होती है इसलिये साधु गुरु और श्री भगवान तीनों को अभिन्न माना गया है।

६७—शम—अब शम किसे कहते हैं यह बताते हैं। अपने लक्ष्य अथवा ध्येय पर चित्त को अविचल स्थिर भाव से स्थिति रखना शम कहलाता है। शम उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार का है।

(क) अपने विकार युक्त और चंचल स्वभाव का एक दम त्याग करके सच्चिदानन्द स्वरूप में जो चित्त की स्थिति वह ही ब्रह्म निर्वाण स्वरूप उत्तम शम है। जिस मनुष्य ने ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करली उसको फिर जन्म मृत्यु रूपी आवागमन नहीं होता, यह ही ब्रह्म निर्वाण पदवी है।

(ख) शब्द स्पर्श रूप रस गंध रूपी बाह्य विषयों का चिंतन

न करके चित्त को आभ्यांतरिक लक्ष्य पर जो धारा वाही एक प्रकार की भूमिका की सृष्टि होती है, उसी को विशुद्ध सत्व स्वरूप मध्यम शम कहते हैं। चित्त की एकाग्रता द्वारा ही चित्त में विशुद्ध सत्व का प्रादुर्भाव होता है।

(ग) बेदांत वाक्यों के श्रवण के अतिरिक्त विषयांतर में मन जाय, तब उसका परित्याग करके वेदांत वाक्यों के श्रवण में मन की जो स्थिरता होती है वह ही मिश्रित सत्व नामक अधम शम कहलाता है।

६८—सन्तोषः—अब संतोष अथवा जिस प्रकार मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है वह सुनो। मन के प्रसन्न रहने पर स्वतः ही मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। मन की प्रसन्नता संपादन करने के लिये ब्रह्मचर्य, अहिंसा, दया, सरलता, विषय वितृष्णा, शौच, दम्भ का त्याग, सत्य, निर्ममत्व, स्थैर्य, अभिमान का त्याग, ईश्वर के ध्यान में तत्परता और ब्रह्मवित् सहवास प्रभृति साधनों की अत्यन्त आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य।

गुप्तेन्द्रिय अर्थात् उपस्थके संयमको ब्रह्मचर्य कहते हैं। गुप्तेन्द्रिय उपस्थ केसंयम द्वारा शरीरके सार स्वरूप वीर्यकी रक्षा होती है। सब साधनों की जड़ ब्रह्मचर्य है। विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिये कि सब प्रकार मैथुनोंका त्याग करनेसे ब्रह्मचर्य का पालन होता है। कामासक्त होकर स्त्रियोंका चिंतन करना कामासक्त हो कर स्त्रियों के गुणों की प्रशंसा करना, कामासक्त होकर स्त्रियों को

सुन्दर समझना, कामासक्त होकर स्त्रियों से प्रेम करना, कामासक्त होकर स्त्रियों से वार्तालाप करना कामासक्त होकर स्त्रियों के साथ एकान्त वास करना और स्त्री संग ये आठ प्रकार के मैथुन ऋषि मुनियों ने कहे हैं। इन आठों का त्याग करने से ही मन की प्रसन्नता में वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य ही चित्त की प्रसन्नता का मुख्य कारण है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास उक्त चारों आश्रमों में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है। इस के ही नष्ट होजाने के कारण आज हमारे देश की ऐसी दुर्गति हो रही है। भींति को यदि कच्चा रखकर उसके ऊपर दालान बनाया जाय, तो जैसे उससे विपदा की संभावना रहती है, वैसे ही ब्रह्मचर्य हीन मनुष्य को, किसी भी आश्रम में प्रवेश क्यों न किया जाय, सिद्धि और शान्ति मिलने की आशा बहुत दूर है, चाहे वह योग भक्ति अथवा ज्ञान किसी भी मार्ग का अवलम्ब क्यों न ले। पूर्व युगों में यह रीति थी कि पहिले वेद पढ़ने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय; और वैश्य गुरु के घर पर जाकर उपनयन संस्कार के उपरान्त गुरु के पास वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते थे। गुरु के घर पर रहकर गुरु सेवा और वेदादि का अध्ययन जो करते थे उनको ब्रह्मचारी कहते थे। ब्रह्मचारी प्रधानतः दो प्रकार के होते थे-नैष्टिक या अस्नातक और स्नातक। जो वेदाध्ययन और संयमादि द्वारा वेद का ज्ञान प्राप्त करके संसार को अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर संसार को फिर नहीं लौटते थे, अर्थात् समावर्तन नहीं करते थे और गुरु के घर पर रह कर आजीवन कौमार व्रत धारण करके गुरु सेवा और

ध्यानादि में तत्पर रहते थे, अथवा किसी अरण्य में जाकर ब्रह्म-ध्यान में जीवन व्यतीत करते थे. उनको नैष्टिक अर्थात् अस्नातक ब्रह्मचारी कहते थे। वेदादि अध्ययन और संयमादि पालन द्वारा जिन का हृदय सात्विक होगया परन्तु संसार वासना दूर नहीं हुई, वे गुरु की आज्ञा से संसार में समावर्तन करके भार्या ग्रहण करके गृहस्थाश्रमी बनते थे, वे लोग स्नातक ब्रह्मचारी कहलाते थे। स्त्री का ग्रहण करना यथेच्छ कामाचार के लिये नहीं हैं, वरन पुत्र के लिये भार्या ग्रहण करने का विधान है। 'पुँ नामक नरक से पुत्र माता पिता का त्राण करता है; यह पुत्र शब्द की व्याख्या है। प्रजापति पितामह ब्रह्मा प्रजासृष्टि की इच्छा से स्त्री और पुरुष दो भागों में अपने को विभाजित करके काम के आनन्द के रूप में अवस्थित हुवे। श्री भगवान ने गीता के विभूत योग नामक दसवे अध्याय में कहा है "प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः" अर्थात् पुत्रोत्पादनार्थ मैं काम देव हूं अर्थात् केवल काम वासना की पूर्ति के लिये जो स्त्री संभोग किया जाता है वह काम वासना मैं नहीं हूं। धर्म शास्त्र की विधि है कि ऋतुमती होने के ४ रात्रि पश्चात् अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, और संक्रान्ति आदि पर्व दिन, और मघा मूल नक्षत्रों को छोड़ कर प्रशस्तचन्द्र में छटी, आठवीं, दसवीं बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं अर्थात् युग्म रात्रि को व्रतक्षीणा अर्थात् आहार विहार आदि से संयमा-वलंबिनी अपनी स्त्री के साथ, समावर्तन करके गृहस्थाश्रमी संभोग करें। शास्त्रीय विधि के अनुसार भार्या गमन करने से ब्रह्मचर्य की हानि होती है, इस लिये समावर्तन

प्राप्त गृहस्थी को स्नातक ब्रम्हचारी कहते हैं। धर्मविधि के अनुसार पुत्र उत्पन्न करने से वह पुत्र सुलक्षण युक्त होता है, और उसके द्वारा वंश उज्वल होता है और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पति और पत्नि दोनों को सदाचारी रह कर भक्ति के साथ श्री भगवान से सत्पुत्र की प्रार्थना करके संभोग में रत होना चाहिये। शास्त्र विहित ऋतुकाल के बिना स्त्री गमन नहीं करना चाहिये इसी लिये श्री भगवान ने गीता में कहा है कि "धर्म का अविरोधी काम मैं हूं।" केवल पुत्रोत्पादनार्थ शास्त्रीय विधि के अनुसार जो भार्या गमन है वह ही धर्म अविरोधी काम समझना चाहिये। शास्त्र विधि के अनुसार भार्यागमन करने से जिस पुत्र का जन्म होगा वह धर्म के प्रभाव से स्वतः ही गृहस्थियों के मन में वैराग्य का उदय करेगा, तब नित्य आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये हृदय में व्याकुलता होगी और उस को जानने के लिये उपाय करने में प्रवृत्ति होगी। स्त्री के सुख, पुत्र के मोह और धनासक्ति में मस्त रहने के लिये गृहस्थाश्रम नहीं है। क्योंकि संसाराशक्ति मनुष्य के अखण्ड ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में बाधा डालती है और प्रतिबंधक होती है, उसको तोड़ने के लिये गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्याश्रम से समावर्तन करना पड़ता है और प्रतिबंधकों का नाश करने के लिये स्वगृहस्थाश्रमोचित धर्मों का अनुष्ठान करने की विधि शास्त्रों ने की है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में जो प्रतिबंध आते हैं, उनको नष्ट करने के लिये धर्म का अनुष्ठान और शास्त्र विधि के अनुसार चलना आवश्यक है। परंतु आज कल ब्रह्मानंद प्राप्ति में आने वाले प्रतिबंधों को दृढ़ता पूर्वक

पकड़ कर धर्म कर्म का त्याग करना और स्वेच्छाचारी बनना सब को अच्छा लगता है। देखो ! किसान भी अपनी भूमि में अच्छी फसल होने की आशा से, कीट पतंग बीज को नष्ट न करें, इस लिये शुभ दिन में बीज बोने के उद्देश्य से, धर्म शास्त्र के जानने वाले ब्राह्मण के घर जाकर शुभ मुहूर्त पूछता है और ब्राह्मण के निर्धारित किये हुये दिन भूमि में बीज डालता है, परंतु वर्तमान युग में गृहस्थी अपनी स्त्री रूपी खेत में पुत्र रूप फसल उत्पन्न करने के लिये वीर्य रूपी बीज डालने को शुभ दिन की कुछ भी आवश्यकता है यह किंचित भी नहीं समझता, यदि ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं। शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करके पुत्र उत्पन्न करने से पुत्र दुःख देने वाला ही होता है। इस लिये पुत्र की अकाल मृत्यु, दारिद्र, दुश्चरित्रता, अधार्मिकता, भक्ति का अभाव, और माता पिता के प्रति अवज्ञा करने के तथा अन्य प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। सत्पुत्र होने के लिये स्त्री को धर्म पूर्वक रहना चाहिये, उसकी भगवन्मुखी मनोवृत्ति होने के लिये उसको धर्म का उपदेश करते रहना, उसका भरण पोषण करना और उत्तम प्रकार से रक्षा करना पति का मुख्य कर्तव्य है।

स्त्रियों का, विवाह होने के पश्चात्, अपने पति के घर जाकर रहना, ब्रह्मचारी के अपने गुरु के घर में रहने के सदृश है। केवल पुत्रोत्पादन के लिये ऋतु काल के अतिरिक्त अन्य समय काम वासना के त्याग सहित पवित्रता से पति की सेवा करना और बड़े छोटों की सेवा में लगे रहना उनके लिये ब्रह्मचर्य का

पालन है। काल की कुटिल गति से इस समय उपरोक्त पवित्रता के अभाव के कारण पति पत्नि में स्वाभाविक प्रेम का अभाव हो गया है। परस्पर का आकर्षण केवल क्षणिक इंद्रिय सुखों की पूर्ति के लिये होता है। पुरुष कामी और अजितेंद्रिय होने के कारण स्त्रियों से अपमानित होते हैं, ऐसे दृष्टांतों का अभाव नहीं है और स्त्रियों का भी पतियों से निरादर किया जाता है, और वे नाना प्रकार के क्लेश भोगती हैं, ऐसे दृष्टांत भी कम नहीं हैं। पारस्परिक एक को दूसरे से मानसिक क्लेश होते हैं, इसका मूल कारण ब्रह्मचर्य का अभाव ही है। और यदि आहार तथा विधि विरुद्ध पुत्र उत्पन्न करना ही मनुष्य का उद्देश्य होता तो मनुष्य और पशु में अंतर क्या रहता। धर्म से ही मनुष्य की विशेषता है, धर्म हीन मनुष्य पशु के ही समान है। कहीं २ पशुओं में भी देखा जाता है कि जब तक मादा ऋतुमती नहीं होती नर उसके पास नहीं जाता, और गर्भ रह जाने के पश्चात् भी उसके पास नहीं जाता, परंतु आज कल धार्मिक-शिक्षा और इंद्रिय संयम का अभाव होने से देश में इतनी दुर्मति फैली हुई है कि ऋतुमती न भी हो अथवा गर्भ रह गया हो तो भी काम के वश पुरुष स्त्री गमन करते हैं। पूर्व युगों के सदृश ब्रह्मचर्य की शिक्षा आज कल एक आधे स्कूल या पाठशाला में दिखाई पड़ती है परंतु धर्म शिक्षा और संयम के अभाव से वहां वह भी अधिकांश कुशिक्षा में परिणत होती देखी जाती है। शिक्षा दी जाती है परंतु उसको अभ्यास में लाने का यत्न नहीं किया जाता।

जिनके पति की मृत्यु हो गई है उनको आजीवन दृढ़ ब्रह्म-

चर्य का अवलंब लेकर परमपति परमेश्वर के ध्यान भजन में तन्मय रहने की चेष्टा करनी चाहिये और ब्रह्मचारिणी रह कर आहार विहार करना चाहिये । ब्रह्मचर्य का पालन ही सब तपस्याओं में श्रेष्ठ तपस्या है। 'जो नैष्टिक ब्रह्मचर्य उर्द्धरेता हैं वे मनुष्य नहीं हैं वरन् साक्षात् देवता ही हैं, ऐसा शास्त्रों में वर्णन किया गया है। एक मात्र ब्रह्मचर्य के बल से ही सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार प्रभृति ऋषियों ने और हनुमानजी और भीष्मादि वीर पुरुषों ने मोक्ष प्राप्ति की थी । एक मात्र ब्रह्मचर्य के बल से ही अयोध्याधिपति महाराज दशरथ के श्री रामचन्द्र जैसे पुत्र, श्री वसुदेव के श्रीकृष्ण जैसे पुत्र, राजा शुद्धोदन के श्री बुद्ध जैसे पुत्र, श्री शिवगुरु के श्री शंकराचार्य जैसे पुत्र और जगन्नाथ मिश्र के श्री चैतन्य सदृश पुत्र उत्पन्न हुए और वर्तमान युग में भी किसी २ भाग्यवान माता पिता को ऐसे साधु पुत्रों की प्राप्ति होती है।

अहिंसाः - मनसा वाचा कर्मणा किसी प्राणी को भी पीड़ा न पहुंचाना और शरीर द्वारा, मन द्वारा और वाणी द्वारा सब जीवों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करने को अहिंसा कहते हैं।

दयाः—को अनुकम्पा भी कहते हैं।

सरलताः—मन, वाणी और कर्म द्वारा एक सदृश व्यवहार रखने को सरलता कहते हैं। जो लोग दुष्ट अथवा कुटिल होते हैं, उनके मन में एक भाव होता है और वाणी तथा कर्म में अन्य व्यवहार होता है, परन्तु जो मनुष्य सरल भाव हैं उनके

भीतरी भाव और बाहरी व्यवहार एक समान रहते हैं।

वैतृष्णा:—ब्रह्मलोक से लेकर भौतिक भोगों तक सब भोग्य वस्तुओं में अनित्यता का बोध और वितृष्णा होने को, और कव्वे की विष्टा के समान विरक्ति होने को निर्मल वैराग्य अथवा वैतृष्णा कहते हैं।

शौच:—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का शौच होता है। जल और मिट्टी के द्वारा बाह्य शौच और मन की विशुद्धि से आभ्यन्तरिक शौच होता है। प्राणायाम और ध्यानादि से मन में विशुद्धता आती है। अज्ञान को हटाना आभ्यन्तरिक शौच का उद्देश्य है।

दंभ:—लोगों को दिखाने के लिये बिना श्रद्धा के पूजा ध्यानादि करना दंभ है। दंभ का त्याग करके पूजा और ध्यानादि करना बहुत आवश्यक है।

सत्य:—जो बात स्वयं देखी है अथवा किसी विश्वास योग्य मनुष्य से सुनी है, उसको ठीक उसी तरह वर्णन करना सत्य कहलाता है। 'ब्रह्म सत्य है' ऐसा कहना भी शास्त्रों में सत्य बोलना माना गया है।

निर्ममता:—देहादि में 'अहंत्व अर्थात् मैं पन' की जो दृढ़ बुद्धि है, उसका त्याग करना ही निर्ममत्व कहलाता है। इस अनित्य देहादि में मेरापन की बुद्धि जिस प्रकार उत्पन्न न हो उसकी सर्वतोभावेन चेष्टा करनी उचित है। एक मात्र निर्ममत्व द्वारा ही कैवल्य पर्यन्त की प्राप्ति भी की जासकती है।

स्थैर्यः—गुरु और वेदान्त वाक्यों द्वारा जो सिद्धान्त निश्चित हो गया है उस पर मन की एकाग्रता पूर्वक जो दृढ़ स्थिति होती है, उसको धैर्य तथा स्थैर्य कहते हैं, अन्यथा शरीर को स्थिररखने को स्थैर्य नहीं कहा जाता।

अभिमान का त्यागः—विद्या, ऐश्वर्य, तपस्या, रूप, वंश, और आश्रम इत्यादि का जो अहंकार होता है, उसके त्याग को ही अभिमान का त्याग कहते हैं। मैं बड़ा विद्वान हूँ, हमारे सदृश दूसरा विद्वान नहीं है, मैं बड़ा धनाढ्य और शक्तिशाली हूँ, हमारे समान कोई दूसरा मनुष्य धनी और शक्तिशाली नहीं है मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मेरे समान कठोर तप और नियमादि का पालन दूसरानहीं करता, मैं बड़ा सुन्दर हूं, मेरे समान सुन्दर दूसरा कोई नहीं है; मेरे कुल के बराबर दूसरा श्रेष्ट कुल नहीं है, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, हमारे जैसा श्रेष्ठ दूसरा कौन है इत्यादि, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ अथवा मैं संन्यासी हूं, मेरे तुल्य अच्छा ब्रह्मचारी, मेरे सदृश सद्ग्रहस्थ अथवा मेरे जैसा आचार वान संन्यासी दूसरा नहीं है, ऐसे अहंकार को सर्वथा त्याग देने को अभिमान का त्याग कहते हैं। सर्वथा निरभिमान व्यक्ति तत्व का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है एक बंगाली गाना है:—

अहंकारी पापी जारा, आमार देखा पाय ना तारा,
दीन जानेर बंधु आमि सकले जाने।

अर्थः—अहंकारी पापी जो हैं, हमें देख पायंनवे,
दीन जनों के बंधु हम हैं, जाने सब कोई।

वह ही वास्तविक दीनों का बंधु है, इसी लिये उस का एक नाम दीनबंधु और दीनानाथ रखा गया है। जिस को अभिमान नहीं वह ही वास्तविक दीन है। यदि तुम उस से मिलना चाहते हो, तो दीन बनो और अभिमान का त्याग करो। एक बंगाली गाना है।

यदि हवि खांटि, हुवो रे माटी,
माटीर देह कर जान्।

अर्थात् यदि वास्तविक साधु बनना चाहते हो, तो अभिमान का त्याग करके मिट्टी के सदृश सहिष्णु और नरम हो जावो।

ईश्वर ध्यानः—कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, और मन तीनों कारणों के द्वारा भोग्य विषयों के चिन्तन का त्याग करके अपनी आत्मा को ईश्वर से अभिन्न ध्यान करो। वेदान्त शास्त्रों में यह ही ईश्वर ध्यान के नाम से प्रसिद्ध है। सगुण ध्यान जैसे विष्णु शिव, और शक्ति आदि जो पंचोपासना के अन्तर्गत हैं, उन को भी ईश्वर भाव से अपनी आत्मा से अभिन्न समझकर ध्यान करने को ईश्वर ध्यान कहते हैं।

ब्रह्मवित् सहवासः—जो ब्रह्म को जानते हैं, उन के संग छाया के सदृश रहना चाहिये। ब्रह्मवित्. अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले श्रीगुरु के सतसंग के बिना कोई भी कार्य सरलता से सिद्ध नहीं हो सकता, और न ज्ञान की ही प्राप्ति संभव है।

६६—सत्य स्वरूप श्री भगवान से मिलने के लिये पञ्च-कर्मेन्द्रियां और मन इस त्रिविध वाह्य और अन्तः करणों को

शुद्ध करना चाहिये। जल निर्मल और तरंग रहित होने पर जैसे उस में सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रतिबिंब दीख पड़ता है वैसे ही कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों सहित मन के शुद्ध और निर्मल होने पर श्री भगवान के स्वरूप की उपलब्धि होती है। अब किस प्रकार त्रिविध कारण की शुद्धि की जाती है, सो सुनो। ईश्वर संबंधी वार्तालाप के सिवाय अन्य बातें न करने से और सत्य भाषण द्वारा वाणी को शुद्ध करना चाहिये, श्री गुरु की चरण सेवा और उनके शरीर की रक्षा के लिये यावतीय कर्मों में हाथों को नियुक्त रख कर, श्रीगुरु के फोटो अथवा मूर्ति इत्यादि की, ईश्वर प्रतिमा जैसे शालिग्राम, नारायण और शिव मूर्ति इत्यादि की पूजा अर्चना और भोग इत्यादि सहित, यह संसार श्री भगवान का ही है ऐसा समझकर, सब कर्मों को उनके अर्पण करते हुवे जितने कर्म किये जाते हैं, उनसे हाथ शुद्ध होते हैं। साधुओं और भक्तों के निवास स्थान और देवालयों मन्दिरों के सिवाय कहीं न जाने से और असत् स्थानों पर जाने का परित्याग करने से पांव शुद्ध होते हैं।

सूर्य में ब्रह्म भावना करके उपासना करने की विधि शास्त्रों में कही गई है और सूर्य ही साक्षात् नारायण हैं, उनके उदय होने के पूर्व शय्या छोड़ कर, मल विसर्जन करके जल और मिट्टी से गुदा शुद्ध करके अन्यान्य शौच करना चाहिये, इस शास्त्रीय विधि के अनुसार गुदा की शुद्धि होतो है। गुप्तेन्द्रिय उपस्थ को ब्रह्मचर्य द्वारा शुद्ध किया जाता है ब्रह्मचर्य का विषय ऊपर विस्तार से कह आये हैं।

अब ज्ञानेन्द्रियों को किस तरह शुद्ध करना चाहिये, सो कहते हैं। सब रूप श्री भगवान के ही रूप मान कर भगवद्भाव से विश्वप्रपंच को देखने से चक्षु की शुद्धि होती है और जिन वस्तुओं को देखने से चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो उनको न देखकर किसी पवित्र वस्तु के दर्शन से भी चक्षु की शुद्धि होती है। चित्त में विक्षेप करने वाले शब्दों पर लक्ष्य न देकर जिस प्रकार चित्त भगवन्मुखी हो ऐसे शब्दों के श्रवण द्वारा कर्ण शुद्ध होते हैं। यह जगत भगवान का विराट देह है और जितनी भी गंध हैं वे सब उसके अंग से निकलने वाली गंध हैं, ऐसा सोच कर अच्छा बुरा भाव त्याग कर गंध ग्रहण करने से (घ्राणेन्द्रिय) की शुद्धि होती है। अथवा श्री भगवान या श्री गुरु की प्रतिमा का पूजन करते समय जो चन्दन, धूप, कर्पूर इत्यादि नाना प्रकार की सुगंध होती हैं वे सब ही श्री भगवान या श्री गुरु की सुगंध मान कर ग्रहण करने से नासिका की शुद्धि होती है। श्री भगवान रस स्वरूप हैं, सब रसों में वे व्यापक हैं, यह सोच कर यह इच्छा प्राप्त होने वाले पदार्थों के रस से संतुष्ट हो कर उसको ग्रहण करने से रसनेन्द्रिय शुद्ध होती है। वाक् संयम और आहार संयम द्वारा ही जिह्वा की पवित्रता का संपादन होता है। श्री भगवान के विराट देह में हमारा देह अवस्थित है और जितने स्पर्श हैं वे सब उसके श्री अंग के स्पर्श हैं ऐसी भावना पूर्वक स्पर्श ग्रहण करने से त्वचा अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय की शुद्धि होती है अथवा श्री गुरु का अंग स्पर्श और श्री भगवान की मूर्ति का स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय की शुद्धि करते हैं। प्राणायाम और भक्ति पूर्वक

श्री भगवन्नाम और ध्यानादि द्वारा मन शुद्ध होता है। चित्त की एकाग्रता, श्री भगवत् प्राप्ति के अतिरिक्त मन में अन्य वासना की उत्पत्ति न होना, राग द्वेष और काम क्रोधादिका त्याग अनित्य भोग विलास से वितृष्णा, सर्वत्र समदर्शन, और श्री भगवान के स्वरूप और गुणों का कीर्तन, प्रेमाश्रुपात और अंग में कंप रोमांचादि मन की शुद्धि के लक्षण हैं।

७०—अब किस प्रकार के विचारों को मन में स्थान देना चाहिये सो सुनो। केवल विचार द्वारा ही मोक्ष के साम्राज्य की प्राप्ति होती है। एक नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा ही सत्य है, उस के सिवाय जितनी वस्तु हैं सब मिथ्या हैं, यह सदा विचार करते रहना चाहिये कि 'नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा ही मैं हूं' उसमें स्थिति रखने की चेष्टा करो। 'नेति २' अर्थात् यह नहीं यह नहीं जैसे आत्मा देहादि नहीं हैं, आत्मा प्राण नहीं है, आत्मा मन नहीं है, आत्मा इन्द्रियादि नहीं है, और वुद्धि भी आत्मा नहीं है, नित्य चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है, इस प्रकार सदा आत्म अनात्म वस्तु का विचार करना चाहिये। देह, मन, बुद्धि और इंद्रियां सब ही उत्पन्न होने वाली वस्तु हैं, जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी होता है। उत्पन्न होने वाले सब ही पदार्थ नश्वर हैं। इस प्रकार सदा नेति २ कहकर विचार करते करते विवेक की सिद्धि होती है अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मतत्व देहादि सब दृश्य वस्तुओं से पृथक् और द्रष्टा स्वरूप है, ऐसा ज्ञान उदय होता है और फिर इस विवेक ज्ञान के लय होने पर ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती

है, इसको ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर दुःख के हेतु अविद्या की निवृत्ति होती है। सब वासनायें दूर हो जाती हैं, सब संशय कट जाते हैं और सब कर्मों का क्षय हो जाता है।

७१—नाम रूप रहित अलिङ्ग आत्मावाणी और मन के अगोचर है। जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान के उदय होने से पहिले श्री गुरु और वेदान्त शास्त्रों के उपदेश का मन पर अच्छा संस्कार जम जाने पर और मन के निर्मल हो जाने पर संकल्प विकल्प रहित स्थिर चित्त पर उसका प्रकाश आता है और उस मन द्वारा अखण्ड एक रस आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा ऐसे शुद्ध मन के गोचर है, अशुद्ध मन के गोचर नहीं। योगादि के अभ्यास द्वारा जब पांचों इन्द्रियां अपने २ शब्दादि विषयों से हट कर मन सहित आत्माभिमुखी होती हैं, तब आत्म विचार के अतिरिक्त दूसरा विचार नहीं आता, आत्मा में स्थिरता से स्थित होना ही शुद्ध मन का लक्षण है।

७२—परमात्मा यदि सर्वात्मक है, अर्थात् सबके देह में जीवात्मा के रूप में रहता है, तब संसार के दुःख सुख उसको भी होना चाहिये ? नहीं ! परमात्मा परब्रह्म को संसार के सुख दुःख नहीं होते। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से नेत्रों को दृष्टि देता है और वह प्रकाश मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों पर पड़ कर, उनको प्रकाशित करके तद्धर्मी अपवित्रता को सब लोगों की दृष्टि में प्रकाशित करने वाला होने पर भी उस बाह्य वस्तु के दोष से दोषयुक्त नहीं होता, वैसे ही परमात्मा सब भूतों के

अन्तरस्थ रहते हुए भी असंग स्वभाव होने के कारण दुःखादि द्वारा लिप्त नहीं होता। सारा संसार अपने ऊपर आरोपित अविद्या के कारण वासनानुयायी कर्मों के फल स्वरूप सुख दुःखों का अनुभव करता है परन्तु परमार्थतः आत्मा में कोई दुःखादि नहीं होते। मानो जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है उस समय क्या रज्जु रस्सीपन का त्याग करके सांप बन जाती है? रस्सी जैसे सांप नहीं बनती, केवल मन में रज्जु-विषयक ज्ञान न रहने से उससे विपरीत ज्ञान आरोपित होकर सांप का अनुभव होने लगता है, वस्तुतः रस्सी तो अपनी असली अविकृत अवस्था में ही रहती है, वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान के कारण जन्म और मृत्यु रहित आत्मा में विपरीत बुद्धि का अध्यास होने से जन्म और मृत्यु आदि का और अशरीरी आत्मा में शरीरादि का अनुभव करके मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूं, मैं गोरा हूं, काला हूं, ब्राह्मण हूं क्षत्रिय हूं इत्यादि का बोध होता है और मनुष्य आनन्द स्वरूप आत्मा में दुःखादि का अनुभव करता है, परन्तु वास्तव में परमात्मा सबकी आत्मा होने पर भी सदा रज्जुवत विकार रहित रहता है और किसी वाह्य दोषादि से लिप्त नहीं होता, सदा ही असंग रहता है।

७२—काम क्रोधादि का प्रवाह अन्तमुंखी करदो। काम, क्रोध, लोभ मोहादि वहिमुंखी रहने पर मनुष्य को दुःख देने वाले होते हैं और शत्रु के सदृश कार्य करते हैं, परन्तु अन्तमुंखी होकर प्रेम प्रदान करते हैं और मित्र के सदृश कार्य करने लगते हैं। काम क्रोधादि को नष्ट करना उद्देश्य नहीं है,

उनको अन्तर्मुखी कर लो, उनका संयम करना ही उद्देश्य है। उनके बहिर्मुखी होने पर ही उनको शत्रु कहा जाता है। जो काम बहिर्मुखी होने पर अनित्य वस्तु की प्राप्ति की आशा से मनुष्य को सदा तृष्णार्त मृग के सदृश इधर उधर भटका कर दुःख देता है, वह ही काम जब श्री गुरु कृपा से अन्तर्मुखी हो जाता है तब प्राणों के प्रभु श्री भगवान से मिलने के लिये चित्त में तीव्र व्याकुलता उत्पन्न होती है और मनुष्य अनित्य बाह्य विषयों से तृप्ति न मिलने के कारण श्री भगवान के दर्शनों की कामना से व्याकुल हो उठता है। कैसे उनकी प्राप्ति होगी, कहाँ जाने से, किसके पास जाने से, किस प्रकार भगवान मिलेंगे, तब सदा केवल यह ही कामना मन में उदय होने लगती है। जैसे किसी के पास किसी वस्तु अथवा अनित्य सुखादि विषयों की प्राप्ति की कामना पूर्ण न होने से मन में क्रोध का संचार होता है वैसे ही उपासना और तपस्या द्वारा श्री भगवान के दर्शन जब तक नहीं होते तब तक साधक के मन में जो क्रोध का उदय होता रहता है उसी को अन्तर्मुखी क्रोध कहते हैं। ऐसे ही क्रोध के आवेश में बङ्गाल के भक्त रामप्रसाद ने गाया है।

"मां २ बोले आर डाकिबना।
तारा! दिये छ दितेछ कतई यन्त्रणा॥" इत्यादि

अर्थ—मां मां कह कर अब नहीं पुकारूंगा, हे तारा, तूने मुझको कितना दुःख दिया है, कितना दुःख दे रही हो।

नोटः—तारा काली का एक नाम है।

ऐसा प्रेममय क्रोध भक्त के प्रेम के लक्ष्य श्री भगवान को

और भी अधिक दृढ़ता से पकड़ता है और उससे मिलने की उत्कण्ठा की और भी अधिक वृद्धि करता है। ऐसी ईश्वर प्राप्ति की उत्कण्ठा ही अन्तर्मुखी लोभ है। श्री भगवान से मिलने की लालसा साधक को क्यों होती है? श्री भगवान आनन्द स्वरूप हैं, उनको पाने पर सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है और निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होती है और उस आनन्द के प्राप्त होने पर मनुष्य अन्य लाभ के लाभ को लाभ नहीं समझता और बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता, इसी लिये उसको पाने के लिये साधक की तीव्र इच्छा क्रमशः चित्त की निर्मलता के साथ २ उत्तरोत्तर बढ़ती है। काम क्रोध और लोभ बहिर्मुखी रहने पर नरक के द्वार हैं परन्तु अन्तर्मुखी होने पर वे ही भक्ति का द्वार खोल देते हैं। जो मोह स्त्री पुत्रादि के ऊपर मैं और मेरापन का रूप धारण करके मनुष्य को अंधकार से अधिक अंधकार में डालता है, वह ही मोह अन्तर्मुखी होने पर 'मैं ईश्वर का हूँ और ईश्वर मेरे हैं' ऐसा रूप धारण करके साधक को प्रकाश से अधिक प्रकाश में ले जाकर परम प्रेम प्रदान करता है।

७४— भोजन न होने तक जैसे रसोईगृह में नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों के बनाने का जमघट रहता है और भोजन हो जाने पर सब निश्चिन्त हो जाते हैं, भोजन बनाने का कोई काम नहीं होता, वैसे ही जप तप ध्यान आसन मुद्रा और प्राणायाम इत्यादि का समारोह तब तक ही रहता है, जब तक अपनी आत्मा में ब्रह्मभाव की उपलब्धि नहीं होती। उपासना और

साधना द्वारा उपास्य अथवा साध्य तत्व की अपनी आत्मा से अभिन्नता का ज्ञान उदय होने के पश्चात् उपासना स्वतः बन्द हो जाती है साधक और साधना की अंतिम अवस्था में निश्चित भाव रहता है। इस लिये साधक को उसके साधन की परिपक्व अवस्था में देख कर मूर्ख लोग उसके विषय में विचार करते समय बड़े भ्रम में पड़ जाते हैं और मन में कहने लगते हैं कि वह सदा ही निष्क्रिय और अकर्मण्य पड़ा रहता है। जिसका पेट भरा है भूख नहीं, उसके साथ खाली पेट भूखे मनुष्य की तुलना करना मूर्खता मात्र है। जिसका पेट भरा है और भूख नहीं अर्थात् जिसको साधना द्वारा साध्यतत्व का निर्णय हो गया है उस को तत्व ज्ञान के लिये अधिक साधनों की आकांक्षा नहीं रहती, वह केवल तत्व चिन्तन में ही रत रहता है. ऐसे मनुष्य के साथ यदि भूखे मनुष्य की तुलना की जाय, जिसका पेट खाली है क्षुधा लगी है अर्थात् जिस को साध्यतत्व का निर्णय करने के लिये साधन मात्र ही मिला है अभी तत्व जिज्ञासा अर्थात् तत्व जानने की स्पृहा अथवा क्षुधा मिटी नहीं है, तो बड़े भ्रम और संशय में पड़ जाने की संभावना है और ऐसे मनुष्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होकर चित्त कलुषित हो जाता है। जो मूर्ख हैं वे अपनी २ बुद्धि के पयमाने से दूसरों को नापने का यत्न करते हैं, इस लिये भ्रम में पड़ जाते हैं।

७५—जैसे तिलों में तेल और काष्ट में अग्नि होती है परन्तु तिलों के पेलने से तेल निकलता है और काष्ट को काष्ट पर रगड़ने से अग्नि प्रकट होती है वैसे ही इस देह में जो आत्म स्वरूप

भगवान हैं, उन को ध्यान द्वारा बाहिर निकालना पड़ता है अर्थात् तब उनका प्रत्यक्ष किया जाता है।

७६—सच्चिदानन्द ब्रह्म ही तुम्हारे जानने का विषय है, वह ही तुम्हारा लक्ष्य है जब तक लक्ष्य में मन की तन्मयता नहीं होती तब तक श्री गुरु प्रदत्त मंत्र का धनुष बनाकर उस पर मन रूपी शर चढ़ाकर सावधानी से आलस्य का त्याग करके तीव्र उत्साह और भक्ति सहित ब्रह्म रूपी लक्ष्य का वेध करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। मन रूपी बाण जब ब्रह्मरूपी लक्ष्य में विध जाता है तब मन की चंचलता अधिक दिन नहीं रहती, वह तन्मय हो जाता है अर्थात् ब्रह्म के साथ अपनी सारूप्यता प्राप्त कर लेता है।

७७ – प्रतिदिन श्री गुरुपदेशानुसार कुछ न कुछ प्राणायाम और ध्यानादि करते रहना चाहिये। इस दुःख पूर्ण संसार में यह ही तुम लोगों को शान्ति देने का एक मात्र उपाय है। जैसे घर में दिन प्रति दिन झाड़ू न दी जाय तो घर कूड़े कर्कट से भर कर मलीन हो जाता है, और वर्तन न मांजे जायं तो मैले पड़ जाते हैं उनकी चमक जाती रहती है, वैसे ही प्राणायामादि किये बिना शरीर की अशुद्धि दूर नहीं होती, और मन ध्यान में नहीं लगता और ध्यानादि न करने से मन का मैला पन दूर नहीं होता, मन में एकाग्रता नहीं आती। इस देह रूपी मन्दिर को साफ सुथरा रखने के लिये प्राणायामादि झाड़ू बुहारी के सदृश हैं।

७८—जैसे एक आदमी ५ घरों से थोड़ा २ खाकर आता है

और जब तुम्हारे घर खाने को बैठता है और थोड़ा सा खाकर उठ खड़ा होता है, तो तुम सोचते हो कि यह तो बहुत बड़ा संयमी है, बहुत कम खाता है, परन्तु तुम्हें नहीं मालूम कि ५ घरों में खाकर उसका पेट चौदह आने भरा हुआ था, तुम्हारे घरपर आकर दो आने भर खाने से ही उसका पेट सोलह आने भर गया और क्षुधा की निवृत्ति हो गई। इसी तरह अनेक जन्म साधनादि द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त साधक मुक्ति लाभ करता है और उस की सब कामनाओं की निवृत्ति होती है परन्तु जिन लोगों को अन्तर्दृष्टि नहीं होती वे सोचते हैं कि इस मनुष्य ने तो इस जीवन में ही मोक्ष प्राप्त करली परन्तु मुझको अथवा अमुक मनुष्य को तो इतना साधन करने पर भी कुछ नहीं हुआ। कोई २ देखा जाता है कि वह बाल्यावस्था से ही श्री भगवान की भक्ति में अनुराग और विषयों से विरक्ति रखता है और कोई २ वृद्ध हो गया है, मरने के दो दिन रहे हैं तो भी उस की विषयासक्ति में कमी नहीं आई, बरन वह दिन प्रति दिन बढ़ती ही जाती है, वह भूल कर भी भगवान का न ध्यान करता है, न नाम लेता है, केवल दिन रात पुत्र और परिवार के ध्यान में मग्न रहता है। हम मर गये तो ये लोग क्या खायेंगे और कैसे जियेंगे इत्यादि चिन्ताओं से ही चिन्ताकुल रहता है। यदि इसका कारण पूर्व कृत साधन माना जाय तो कहना पड़ेगा कि बहुत से पूर्व जन्मों में श्री भगवान का ध्यान भजन करने के कारण इस जन्म में भी भगवान से मिलने के लिये उस बालक के हृदय में इतनी व्याकुलता और

अनित्य विषयों से विरक्ति उत्पन्न हुई है और जो वृद्ध है वह बहुत जन्मों से भगवद्विमुख रहा है, इसलिये उसका चित्त पापों से कलुषित होने से कारण भगवान के नाम और ध्यान की ओर प्रवृत्ति नहीं होता, केवल पापों के वश पापों की ही चिन्ता हर समय करता रहता है। आप लोग यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखें कि मोह के बराबर दूसरा पाप नहीं है। मोह से ही सब प्रकार के पापों की सृष्टि होती है। मनुष्य यदि सूक्ष्म दृष्टि से अपने और दूसरों के कर्मों पर विचार करे तो समझ सकता है कि उसका पूर्व जन्म कैसा था और अगला जन्म कैसा होगा। मनुष्य अपने सन्मुख दुःखों को उपस्थित देख कर हाय २ करता है परन्तु दुःखों के हेतु स्वरूप पूर्व जीवन कृत कर्मों का ख्याल करके उनका नाश करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, वरन् इस दुःख के द्वारा ही जिस प्रकार पुनः दुःख का बीज पैदा हो केवल उसी बात की चेष्टा करता है । एक समय एक बुद्धिमान मनुष्य अपने एक मित्र से कहने लगा, "भाई! योगीजन अपने पूर्व जन्मों के और अगले जन्मों के वृत्तान्त जान लेते है, इसमें अधिक आश्चर्य क्या है ? हम भी अपने तीन जन्मों की बात कह सकते हैं। उसकी बात सुन कर उसके मित्र ने पूछा 'अच्छा! देखें, अपने तीन जन्मों का हाल कहो। उसके उत्तर में पहिले ने कहा "मैंने पूर्व जन्म में कोई शुभ कर्म नहीं किया था, इसलिये इस जन्म में इतना दुःख पा रहा हूं और इस जीवन में भी ऐसा कोई सुकर्म नहीं कर रहा कि अगले जन्म में सुख मिले। इस लिये अगले जन्म में भी हमको

दुःख ही मिलेगा।" वास्तव में वर्तमान जीवन की अपनी मनोवृत्ति और कर्मों पर मन का संयम करने से पूर्व और पर दोनों जन्मों का हाल जाना जा सकता है। अनात्म देहादि में आत्मबुद्धि ही दुःख का हेतु है जब तक इस हेतु का नाश नहीं होता, तब तक निरवच्छिन्न शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति की प्राप्ति के लिये भगवान के शरणापन्न होकर श्री गुरु के उपदेश के अनुसार भक्ति पूर्वक जप और ध्यानादि करना चाहिये। इस तरह जप और ध्यानादि द्वारा अनेक जन्म व्यतीत होने पर श्री भगवान को तत्वतः जान कर साधक मोक्ष लाभ करने में समर्थ होता है। गीता में श्री भगवान ने अर्जुन से ऐसा ही कहा है।

७६—इस जन्म में ही मैं भगवान के दर्शन करूंगा, उनको तत्वतः जानूंगा ऐसी भावना को हृदय में पोषण करके तीव्र उत्साह के साथ भगवान का ध्यान करो और उसका नाम जपो। यदि तुम आकाश में लक्ष्य करके बाण फेंकोगे तो आकाश पर्यन्त यद्यपि तुम्हारा तीर नहीं पहुंचेगा, तो भी किसी वृक्ष से तो ऊंचा पहुंचेगा ही, उसी तरह इस जीवन में ही ईश्वर के दर्शन करूंगा, उनको तत्वतः पहिचानूंगा, ऐसी उच्चाकांक्षा लेकर यदि साधन में लगोगे, और यदि उसको इस जीवन में न पा सके तो भी साधन में तो बहुत अग्रसर हो ही जाओगे। इस जीवन में जितने अग्रसर हो सकोगे, उसका फल अगले जीवन में अनायास ही प्राप्त हो जायगा, अर्थात् उसका फल व्यर्थ जाने वाला नहीं है। कल्याणकर कृत्यों का अनुष्ठानकर्ता देहान्त होने पर दुर्गति को

कभी प्राप्त नहीं होता, यह श्री भगवान का वचन है।

८०—इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यदि तुमने वास्तविक मनुष्यता के गुणों का सम्पादन नहीं किया और दुःख के बीज अविद्या को नष्ट करने की चेष्टा नहीं की, तो फिर मरने के पीछे कुछ कर सकोगे इसका प्रमाण क्या ? कर्म करने की क्षमता रखने वाले मोक्ष प्राप्ति के साधन स्वरूप देवताओं के भी वांछनीय इस मनुष्य देह को पाकर, उसके द्वारा श्री भगवान के दर्शन अथवा आत्म साक्षात् द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये तीव्र पुरुषार्थ करना चाहिये। पुण्य क्षीण होने पर मोक्ष प्राप्ति के लिये जिस उपाय से मनुष्य देह प्राप्त हो, उसकी देवता भी इच्छा करते हैं पुण्य क्षय होने पर उन्हें मर्त्य लोक में आना होता है, यह शास्त्रों का कथन है। यह मनुष्य देह ही एक मात्र, मुक्ति के लिये उपयुक्त देह है। तुम लोग ऐसी उत्कृष्ट देह पाकर वृथा मत गंवाओ, इस देह के नष्ट हो जाने पर पुण्य के प्रभाव से दुष्कर्म वश यदि पशु अथवा स्थावरादि की योनि मिली तो फिर कितने जन्मों के पश्चात् यह मनुष्य योनि मिलेगी इसका निश्चय नहीं। गीता में श्री भगवान ने कहा है कि सत्वगुण प्रधान मनुष्य ऊर्द्ध लोकों को गमन करते हैं, रजोगुण प्रधान मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में रहते हैं और निकृष्ट गुणावलंबी तमोगुण प्रधान अधोगति को प्राप्त होते हैं। इसका यह ही तात्पर्य है कि सत्व गुण प्रधान मनुष्य जप तप योग ध्यानादि में सदा संलग्न रहते हैं, उनके देहान्त होने पर सत्वगुण की उत्कर्षता के तारतम्यानुसार वे गंधर्वलोक,

पितृलोक, देवलोक, और इतना ही नहीं ब्रह्मलोक पर्यन्त जाने में समर्थ होते हैं। रजोगुण प्रधान मनुष्य सकाम कर्मों में सदा ही लगे रहते हैं जैसे मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराना. धर्मशाला बनवाना, तालाब कूए बावड़ी खुदवाना अथवा अमुक पूजा द्वारा हमको यह फल मिलेगा और लोक समाज में हमारी इतनी प्रतिष्ठा होगी. ऐसे विचारों से नाना प्रकार की पूजा पाठ करना. इत्यादि। ऐसे मनुष्यों को देहान्त होने पर फिर मनुष्य लोक में ही आना पड़ता है जो लोग सदा आहार, आलस्य और निद्रा परायण रहते हैं वे निकृष्ट गुणावलंबी तमोगुण प्रधान मनुष्य हैं, ऐसे मनुष्य मरने के पश्चात् पश्वादि अधोयोनियों में जन्म लेते हैं अथवा तमोगुण के तारतम्यानुसार अंधतामिस्र इत्यादि नरकों में गिरते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के पांचवें अध्याय के दशम खण्ड में लिखा है कि जो रमणीय अर्थात् सुन्दर पुण्य कर्माभ्यासी हैं उनको देहान्त होने पर अच्छी योनियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों में जन्म मिलता है और जो लोग कुत्सित कर्मों में लगे रहते हैं उनको देहान्त होने पर कुत्सित योनियां अर्थात् कुत्ता, शूकर आदि की योनियां अथवा चाण्डाल के घर जन्म लेना होता है। अतएव तुमने यह मनुष्य देह पाया है, इसलिये अब अधोयोनि में जन्म ग्रहण नहीं हो सकता, ऐसा विचार कर निश्चिन्त मत बैठो और जिस प्रकार जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान प्राप्ति द्वारा दुःख के बीज स्वरूप अविद्या को ध्वंस कर सको, उसके लिये मोह निद्रा से जाग उठो और सद्गुरु के उपदेश के अनुसार जप और ध्यानादि करो।

८१—यदि साधन में बैठने पर देखो कि मन जप या ध्यान में नहीं लगता है तो कुछ देर ऊंचे स्वर से स्तोत्रादि का पाठ अथवा कीर्तन करने लगो। स्तव पाठ और कीर्तन अथवा गानादि द्वारा मन की चंचलता दूर होने पर ध्यान में मन लगाओ। स्तव कीर्तन अथवा भजनादि की आवश्यकता बहिर्मुखी मन को भीतर की ओर करने के लिये होती है मन अन्तर्मुखी होने पर जप ध्यानादि करने से अधिक आनन्द मिलता है। स्तव, कीर्तन, और भजनादि के गाने का उद्देश्य स्थूल मन का स्थूल विषयों से आकर्षण करके भगवत् ध्यान में नियुक्त करना है। यदि साधन में बैठने मात्र से जप ध्यान में मन लग जाता है,तो उनकी आवश्यकता नहीं।

८२—'ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के सदृश शूद्रादि का भी अधिकार ब्रह्म विद्या के लिये है अथवा नहीं, ऐसे ही स्त्रियां भी ब्रह्म विद्या की अधिकारिणी हैं या नहीं ? यह प्रश्न बहुत लोग किया करते हैं, इसके उत्तर में कहा जाता है कि वेद विधि के अनुसार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही ब्रह्म विद्या की प्राप्ति का अधिकार है, परन्तु शूद्र जाति और स्त्रियां पौराणिक और तान्त्रिक विधि से ब्रह्म विद्या की प्राप्ति कर सकती हैं। केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही, जिनका उपनयन संस्कार होता है श्री गुरु के पास जाकर वेदों का पाठ कर सकते हैं और वेद विधि के अनुसार ब्रह्म विद्या का उपदेश ग्रहण कर सकते हैं। जिनका उपनयन संस्कार नहीं होता वे गुरु के पास जाकर वेद पाठ नहीं कर

सकते और इसलिये वैदिक ब्रह्मविद्या श्रवण करने का उनको अधिकार नहीं है। श्री शंकराचार्य जगद्गुरु ने ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के ३८ वें सूत्र के भाष्य में लिखा है कि चारों वर्ण इतिहास और पुराणों को श्रवण करने के अधिकारी हैं, शूद्र को वेद विद्या का अधिकार नहीं है, वह इतिहास पुराणादि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

जबकि सबका स्वरूप ब्रह्म है, अर्थात् वह सब की ही आत्मा है तो सब वर्णों को ही ब्रह्म जानने का अधिकार है। आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति सब का ही उद्देश्य है परन्तु उपाय भिन्न २ हैं। विदुर और धर्मव्याध शूद्र होते हुए भी ब्रह्मवित् थे और शबरी ने अन्त्यज स्त्री होते हुये भी श्रीरामचन्द्रजी को ब्रह्मभाव से मिल कर मुक्ति प्राप्त की, ऐसा पुराणों में लिखा है। जिस ब्रह्मविद्या द्वारा ब्रह्म को हृदय में पाया जा सकता है, वह ब्रह्मविद्या उपासनादि द्वारा चित्त के निर्मल न होने तक, कभी भी किसी को भी प्रदान नहीं करनी चाहिये, यह शास्त्रों का आदेश है।

अधिकारी और वर्ण के भेद से ब्रह्म को पाने के उपाय भिन्न २ हैं, इसलिये झगड़ा नहीं करना चाहिये, वाक्वितण्डा में न पड़ कर जिसका जो रास्ता सुविधाजनक हो अर्थात् जिसके लिये जो रास्ता उपयुक्त हो उसे उसी रास्ते को पकड़ कर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये चेष्टा करनी चाहिये।

८३—तुम ज्ञान भक्ति और योग इस त्रिविध पथ में किस रास्ते के अधिकारी हो यह बात तुम्हारे गुरु जिनको तुमने गुरु

बनाया है तुम्हारी अपेक्षा अधिक जानते हैं, इसलिये दूसरे के रास्ते पर चलने के आग्रह से झगड़ा न करके गुरुप्रदर्शित मार्ग पर चलते चलो उसी रास्ते को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। रास्ता ही तुमको रास्ता दिखायेगा और गंतव्य स्थान पर पहुंचा देगा। रास्ते विभिन्न होने पर भी सबका गन्तव्य स्थान एक ही है। जैसे पैदल ट्रेन, वायुयान, स्टीमर अथवा नौका द्वारा जिसकी जैसी इच्छा और सुविधा होती है उस मार्ग का अवलम्बन करके गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर होने से और भिन्न २ मार्गों और भिन्न २ उपायों द्वारा यात्रा करके गन्तव्य स्थान पर पहुंच कर सब का अनुभव एक समान होता है, वैसे ही ज्ञान, भक्ति और योगादि भिन्न २ मार्ग और भिन्न २ मत होने पर भी, सबका गन्तव्य स्थान मोक्षराज्य अर्थात् निरवच्छिन्न परमानन्द की प्राप्ति एक है। सुतरां तुम किसी भी पथ और किसी भी मत को स्वीकार करके फिर वाक्वितण्डा में पत पड़ो।

८४—तुम अद्वैत के वंश हो, सब ही अद्वैत स्वरूप हो, अद्वैत को पाने के लिये ही अपने उपास्य देव की अद्वैत भाव से उपासना करते हो, तुम्हारा उपास्यदेव अद्वैत ब्रह्म है कहां नहीं ? किसी भाव से किसी भी मत के अनुसार उपासना क्यों न करते हो, उसी २ नाम और रूप के अवलंबन द्वारा जो एक अद्वितीयब्रह्म विद्यमान है, तुम उस ही अद्वैत ब्रह्म की उपासना कर रहे हो। वह एक अद्वैत ब्रह्म ही भिन्न २ नाम और रूपों में व्यापक रह कर भक्त की मनोवाञ्छा पूर्ण करता है। तुम्हारा अद्वैत ब्रह्म मुसलमान को मस्जिद में, ईसाई के गिरजा में

अन्यान्य संप्रदायों के मन्दिरों में भिन्न २ भाव से और भिन्न भिन्न मत के अनुसार पूजा जाता है, इसलिये किसी के भी मार्ग और मत की अवहेलना मत करो। उन से द्वेष नहीं करना चाहिये।

८५—साधक का स्वभाव पतिव्रता स्त्री के सदृश होना चाहिये। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष का ध्यान नहीं करती और दूसरों की निन्दा भी नहीं करती वैसे ही साधक अपने साधन पथ के सिवाय दूसरे साधन पथों को ग्रहण भी नहीं करता और उन की निन्दा भी नहीं करता। भक्ति और विश्वास के साथ यदि गुरुपदिष्ट मार्ग में लगे रहोगे तो उसी से सिद्धि की प्राप्ति हो जायगी। जिस को निष्टा नहीं, उस के लिये कोई मार्ग नहीं, उस को न इह लोक है न परलोक। तुम को जब प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाला साधन पथ मिल गया है तब उस ही का दृढ़तापूर्वक आश्रय लिये रहो।

८६—"ईश्वर है, वह सब को देखता है, सब सुनता है और सब जानता है"। ऐसा ज्ञान श्रीगुरुवाक्य और शास्त्रों द्वारा जानना परोक्ष ज्ञान है और उस ही सच्चिदान्द ईश्वर को अपनी आत्मा से अभिन्न बोध करना अपरोक्ष ज्ञान है अर्थात् साधारण भाषा में उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

८७—ईश्वर के अस्तित्व में जिन लोगों को वास्तविक विश्वास है वे कभी भी किसी प्रकार अन्याय और पाप कर्म नहीं कर सकते; जिन को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है उनको पाप कर्म करते समय कोई देख न ले या जान न ले, इस का भय लगा रहता है, परन्तु उनकी विश्वद्रष्टा की ओर जो

सब कुछ देखता है और जानता है, किञ्चित् भी दृष्टि नहीं जाती। ईश्वर है इस के प्रमाण वेद और शास्त्र हैं धर्माधर्म और पुण्य पाप इत्यादि का निर्णय शास्त्रों द्वारा किया जाता है। जो शास्त्रों में विश्वास रखते हैं वे सचमुच ईश्वर में विश्वास रखने वाले हैं। तमोगुणी लोग ही शास्त्रों की अवहेलना करके और स्वार्थांध हो कर व्यभिचार और दुराचार करते हैं। तुम सब ही शास्त्र विश्वासी बनो।

८८—श्रुति स्मृति इत्यादि शास्त्रों में लिखा है कि परमात्मा परब्रह्म की जिस प्रकार भक्ति करनी चाहिये वैसी श्री गुरु में भी होनी चाहिये और ऐसे गुरु भक्त को परतत्व स्वतः ही प्रकाशित होता है। श्री गुरु में जिस की भक्ति और श्रद्धा नहीं होती उस को ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होना बहुत कठिन है। गीता में श्री भगवान ने अर्जुन से कहा है; "श्रद्धावान् अर्थात् गुरु वाक्य और शास्त्र वाक्यों में जिस का विश्वास है और ज्ञान प्राप्ति की आशा से श्री गुरु की उपासना में जो लगा हुआ है ऐसा श्रद्धालु मनुष्य और जो विषयों से इन्द्रियों का संयम करने में समर्थ है, वह ही ईश्वर ज्ञान अथवा आत्मज्ञान पाने में समर्थ होता है। अनात्मज्ञ मनुष्य, जिस का श्री गुरु के वाक्यों और शास्त्रों में विश्वास नहीं है और इस से हमारी सिद्धि होगी या नहीं; ऐसा संदेह युक्त मनुष्य ज्ञान लाभ कभी भी नहीं कर सकता।" प्रधानतः जिस का श्री गुरु वाक्य में विश्वास नहीं है, उस को श्री गुरु प्रदर्शित साधन मार्ग में भी श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। श्री गुरु में जिस की भक्ति है, उसका श्री गुरु वाक्य में भी विश्वास होता

है। एक मात्र श्री गुरु में भक्ति द्वारा दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस का दृष्टान्त छान्दोग्य उपनिषद् में जाबालि के पुत्र सत्य काम और महाभारत में उपमन्यु और एकलव्य की कथाओं में मिलता है जिसकी वास्तव में श्री गुरु में भक्ति है वह कभी भी छुपकर अन्याय का कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भक्त शिष्य सदा ही श्री गुरु के समीप रहता है और श्रीगुरु को सर्वत्र सब नाम रूपों में देखता है। इस विषय पर एक कथा है सुनोः—

किसी गुरु देव के पांच ब्रह्मचारी शिष्य थे, सबसे छोटा शिष्य श्री गुरु के सिवाय कुछ नहीं जानता था, श्री गुरु देव ही उसके साक्षात् देवता थे, श्री गुरु देव ही उसके एक मात्र ध्येय और श्री गुरु देव की सेवा ही उसकी एक मात्र पूजा थी। भक्तिमान शिष्य की भक्ति के आकर्षण से श्री गुरु उस कनिष्ट शिष्य को अधिक प्रेम करते थे और उस पर अधिक कृपा दृष्टि रखते थे, परन्तु उनकी ऐसी कृपा दृष्टि दूसरे शिष्यों को विषवत् लगने लगी और इसलिये वे उसको दोषी साबित करने के लिये गुरु के समक्ष प्रति दिन उस पर नाना प्रकार के मिथ्या अभियोग लगाने लगे। अन्त में यहां तक हुआ कि वे शिष्य श्री गुरु पर समदर्शी नहीं केवल पक्षपाती होने इत्यादि के दोषारोपण करते हुये भी संकोच नहीं करते थे। उन शिष्यों का ऐसा व्यवहार और कहना सुनना क्रमशः श्री गुरु के भी कर्णगोचर होने से न रहा। इसके पीछे एक दिन समदर्शी गुरु छोटे शिष्य को अधिक प्रेम क्यों करते थे यह बात दूसरे शिष्यों को वाणी द्वारा

न बताकर प्रत्यक्ष दिखाने के लिये पांचों शिष्यों को अपने सामने बुला कर पांचों के हाथ में एक २ कबूतर देकर बोले कि "इन कबूतरों को किसी ऐसे स्थान में जहां कोई न देख सके मार कर हमारे पास ला कर जो उपस्थित होगा वह हमारा प्रिय शिष्य समझा जायगा।" श्री गुरु देव ने कबूतर शिष्यों के हाथ में दिये ही थे कि यह सोच कर कि कौन पहिले मार कर लाता है शीघ्रता से सब चल दिये और किसी ने घर के कोने में, किसी ने समीप के जंगल में घुस कर, प्रत्येक कबूतरों के सिर काट कर श्री गुरु के समीप उपस्थित हुआ, परन्तु कनिष्ट शिष्य तब तक वापिस नहीं आया। उधर वह कनिष्ट शिष्य निर्जन स्थान ढूंढ़ता २ पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग पर्यन्त भ्रमण करके निर्जन स्थान न पाकर जीवित कबूतर को हाथ में लिये श्री गुरु के समीप वापिस आया और भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करके चुप खड़ा हो गया। तब श्री गुरु महाराज ने उससे कहा "बेटा! इतनी देर कहां रहा, और कबूतर को क्यों नहीं मारा?" श्री गुरु के प्रश्न के उत्तर में शिष्य ने हाथ जोड़ कर गद् २ भाव से विनयपूर्वक, नम्रता से कहा 'भगवन्! निर्जन स्थान खोजते खोजते मैंने त्रिलोक पर्यटन कर डाला परन्तु कहीं भी निर्जन स्थान नहीं मिला, जहां जाता था, वहां ही देखता था कि आपकी सौम्य प्रशान्त और अभय वर देने वाली ज्योति पूर्ण यह ही मूर्ति मेरे सन्मुख उपस्थित है। आप तो सर्वत्र ही हैं और सब ही देखते हैं, इसलिये मैं निर्जन स्थान न पाकर कबूतर को मारने में असमर्थ होकर आपके श्री चरण कमलों में उपस्थित होने को मजबूर हूँ, शिष्य की

बात सुन कर श्री गुरु देव के गालों पर अविरल धारा से प्रेमाश्रु वहने लगे और प्रेम से गद् २ हो कर कहने लगे "तुम धन्य हो धन्य तुम्हारी गुरु भक्ति, धन्य तुम्हारे माता पिता, धन्य तुम्हारा कुल और धन्य तुम्हारा देश।" तुम गुरु के सिवाय कुछ नहीं जानते और गुरु ही तुम्हारा एक मात्र ध्येय और पूज्य है इस लिये तुम्हारी ऐकान्तिक भक्ति से विश्वनियन्ता, सर्व साक्षी, सर्वान्तर्यामी वह ही परात्पर परम पुरुष प्रकृति से अतीत रहते हुये भी श्री गुरु के रूप से तुम्हारे साथ २ वर्तमान रहे। उसका जो निशिदिन तैल धारवत् निरवच्छिन्न रूप से ध्यान करता है, उस ही भक्त के हृदय में वे सदा विराजमान रहते हैं, वह भक्त सदा ही उनके दर्शन करता है। उनकी जिस २ भाव से और जिस २ मूर्ति से उपासना करोगे, भक्त वत्सल श्री भगवान उस ही भाव और मूर्ति से तुम्हारी मनोवाञ्छा पूर्ण करेंगे। हे शिष्य वृन्द ! तुम लोगों ने अब स्वयं देख लिया कि हम क्यों इस को अधिक प्रेम करते हैं और कृपा दृष्टि रखते हैं। तुम लोगों को कोई न देख सके ऐसे निर्जन स्थान में जाकर, हमने कपोत की हत्या करने को कहा था, परन्तु तुम लोगों का विश्वद्रष्टा, विश्वतश्चक्षुः सर्व व्यापी श्री गुरु में मन नहीं लगाने से और उसमें विश्वास नहीं करने से तुम उसको नहीं देख सके, केवल मनुष्य रहित स्थान में ही चित्त की मलीनता से निर्जनस्थान समझ कर तुमको जीव हिंसा करने में संकोच नहीं हुआ। तुम लोगों का चित्त मलीन होने से तुम रागद्वेष और हिंसा के वशीभूत हो, इस लिये श्री गुरु समदर्शी और निर्मल हैं. इस बात का ज्ञान

तुमको किञ्चित् मात्र भी नहीं होता। श्री भगवान ने अर्जुन से कहा है कि जो लोग मुझ को जिस भाव से भजते हैं मैं भी उन पर उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ। मैं सब प्राणियों के लिये एक समान हूँ, मेरा न कोई प्रिय है न कोई द्वेष्य है, जो लोग भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं वे स्वभावतः ही मुझ में स्थिति लाभ करते हैं और मैं भी स्वभावतः उन में वास करता हूं और उन पर अनुग्रह करता हूँ"।

भक्तों की ऐकान्तिक भक्ति से ही श्री भगवान आकर्षित होते हैं, उन में पक्ष पातित्व का दोष नहीं है। इसी प्रकार श्री गुरु भी सब शिष्यों के प्रति एक समान समदर्शी होते हैं, शिष्य अपनी अपनी भक्ति और श्रद्धा द्वारा ही श्री गुरु को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

८६—गृहस्थियों के घरों में पांच हिंसा के स्थान होते हैं। (१) चूल्हा (२) चक्की, सिलबट्टा (३) झाड़ (४) ऊखल मूसल और (५) जल रखने का कलश। इन पांचों को काम में लाने से मनुष्यों को हिंसा का पाप लगता है। इन पापों के नाश करने के लिये मनु प्रभृति महर्षियों ने गृहस्थियों के लिये प्रतिदिन ५ महायज्ञ करने का विधान किया है। अध्ययन, अध्यापन और जपादि को ब्रह्मयज्ञ, अन्न जलादि द्वारा पितृतर्पण करने को पितृयज्ञ, अग्नि में आहुति द्वारा हवन करने को देवयज्ञ, पशु पक्षियों को अन्नादि चुगाने और बलिवैश्व देने को भूतयज्ञ कहते हैं और अतिथि सत्कार का नाम नृयज्ञ अथवा मनुष्ययज्ञ है। शक्ति के अनुसार जो गृहस्थ दैनिक ये पांच यज्ञ करते

हैं उनको उपरोक्त पांच पाप नहीं लगते । ऋषिगण, पितृगण, देवगण, भूतगण और अतिथिगण गृहस्थियों पर प्रत्याशा रखते हैं, इसलिये पठनपाठन और जपादि रूप ब्रह्मयज्ञ द्वारा ऋषिगण की, विधिपूर्वक अन्न, जल और दुग्धादि द्वारा तर्पण करके पितृगण की, होमादि द्वारा देवताओं की, बलिवैश्व द्वारा भूत-गण की और अतिथि सत्कार द्वारा मनुष्यों की तृप्ति करनी चाहिये । दारिद्रय के कारण जो लोग अतिथि सत्कार करने में असमर्थ हैं उनको स्वाध्याय अर्थात् मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और जपादि में नित्ययुक्त रहना चाहिये । होमादि याग यज्ञादि कर्मों का समय पाकर नाश हो जाता है परन्तु नित्यस्वरूप ब्रह्म अथवा श्री भगवान का नाम अक्षय है। होम और यज्ञादि की अपेक्षा जप यज्ञ दस गुण फल देने वाला और मङ्गलप्रद है, ऐसा मनु का कथन है, सुतरां होमादि के बदले तुमको जप यज्ञ में विशेष मन लगाना चाहिये । श्रीगुरु प्रदत्त मंत्र परब्रह्मस्वरूप है और प्राणायाम ही परम तप है ।

मनु ने कहा है कि पंचमहायज्ञों के अन्तर्गत देव, पितृ, भूत और नृयज्ञ इन चार महायज्ञों के सहित यदि दर्श पौर्णमासादि यज्ञ किये हों तो भी सबका पुण्य फल जप यज्ञ के सोलहवें भाग के भी तुल्य नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि एक जप यज्ञ के द्वारा सब यज्ञों का फल मिलता है । शक्ति होते यदि कोई गृहस्थ अतिथि सत्कार नहीं करता, तो वह पाप का भागी होता है । जो एक रात्रि वास करे वह अतिथि है, अनित्य स्थिति होने के कारण अतिथि कहते हैं यह

मनु का कथन है। दारिद्र्य के कारण अतिथि-सत्कार करने में असमर्थ होने पर भी शयन के लिये तृणशय्या, विश्राम के लिये भूमि, पाद प्रक्षालन के लिये जल और मनकी तृप्ति के लिये प्रिय वचन का अभाव धार्मिक गृहस्थों के पास कभी नहीं हो सकता। परन्तु आजकल दुःख का विषय है कि आधुनिक शिक्षा से अनेक शिक्षित मनुष्य ऐसे हैं जो अतिथि को बैठने को कहना तो दूर की बात है, आने के साथ ही कटूक्ति द्वारा चले जाने के लिये 'दूर २' कहते हैं। धर्मशास्त्रों में लिखा है कि अतिथि यदि निरादर युक्त वास करे अथवा घर से चला जाय तो गृहस्थ के सब पुण्य हरण कर लेता है और अतिथि के जितने पाप हैं सब उस गृहस्थ को दे जाता है। अतिथि के प्रसन्न होने पर धन, आयु, यश और स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यदि तुम दैनिक पंच महायज्ञ न कर सको तो रोज गीता और उपनिषदादि मोक्ष शास्त्रों का पाठ और जपादि किया करो। रोज शक्ति के अनुसार थोड़ा २ अन्न संचय करके एक पक्ष में या मास के अन्त में उसको किसी सत्पात्र को दान करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। कोई यदि भूखा एक मुट्ठी अन्न मांगे तो यदि शक्ति हो तो दूसरे घर न भेज कर जैसा कुछ सामान्य भोजन घर में हो, वह उसको भी दो। केवल स्त्री पुत्रादि का पालन पोषण करना ही गृहस्थ का धर्म नहीं है। गृहस्थ को सब प्राणियों की रक्षा करनी चाहिये। धर्मशास्त्रों में लिखा है "प्राण वायु के आश्रय जैसे प्राणीमात्र जीते हैं, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय पर ब्रह्मचारी, बानप्रस्थ और सन्यासी रहते हैं।

सुतरां गृहस्थ प्रतिदिन तीनों आश्रमों का विद्या और अन्नादि द्वारा प्रतिपालन करता है।" इसलिये गृहस्थ दूसरे आश्रमों का पिता स्वरूप है और गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ माना जाता है।

६०—मृत्यु देह परिवर्तन के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कैदी जैसे उसके निर्दिष्ट दण्ड की मियाद खतम होने पर जेलखाने से बाहिर कर दिया जाता है, वैसे ही जीव भी अपने कर्मों के अनुसार जाति, आयु और भोग लेकर इस देह को ग्रहण करके संसार रूपी जेल में प्रवेश करता है और अपने निर्दिष्ट भोगों के क्षय होने पर इस संसार रूपी जेल से चला जाता है। इस जेलखाने में रहकर अन्य कितने ही पुराने और कितने ही नये कैदियों के साथ उसका प्रेम हो जाता है। यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेरे भ्राता हैं, ये मेरे पुत्र हैं और यह मेरी पत्नी है और मैं भी किसी का पिता, या किसी की माता, किसी का भ्राता और किसी का पति इत्यादि हूँ, इस प्रकार नाना सम्बन्ध बना लेता है। इस जेलखाने में कोई बहुत थोड़े समय के लिये, कोई दो वर्ष, कोई छः वर्ष, कोई पचास वर्ष कोई इससे भी अधिक काल के लिये कैदी होकर आते हैं। उनका भोगकाल जब खतम हो जाता है उनको उसी क्षण जेलखाने से बाहिर कर दिया जाता है, एक अथवा अधिक कैदियों के बाहिर हो जाने पर दूसरे कैदी रोते हैं 'हाय २ क्या करें।' अरे कैदियो! तुम क्यों इस संसार रूपी जेल खाने में पड़े हुए वृथा मोह वश आ-

त्मीयता और कुटुम्ब जोड़ कर अब हाय २ करते हो। पुत्र के शोक में और बन्धु के शोक में आहार, निद्रा त्याग दी है। इसी तरह कितने जन्मों से अपराधी बन कर इसी प्रकार कैदी बने हो, यह क्या जानते हो। तुम्हें इसका एक बार भी विचार नहीं आता कि इस जेल खाने में फिर आना होगा, क्योंकि उसी के बीज बो रहे हो। साधारण जेलों में कैदियों के पैरों में लोहे की बेड़ियां पड़ी होती हैं कि वह अपनी इच्छानुकूल जेल के बाहर न जा सके, परन्तु हे मनुष्यो ! तुम्हारे पैरों में मोहकी बेड़ी पड़ी हैं, जो लोहे से भी कठोर है, सामान्य लोहे की बेड़ी उसकी तुलना में कुछ भी नहीं। इस मोह रूपी बेड़ी से मनुष्य बंधा हुआ है और उसको दारा सुत की बेगार रूपी श्रम करने का कठोर दण्ड मिला है, और उस पर चिन्ताराम दारोगा प्रतिनियत नाना प्रकार के कार्य देकर काम लेता है, उस के ऊपर प्रबल अत्याचारी काम क्रोधादि छः पहरेदार सदा ताड़न करते रहते हैं। यह सब देख सुन कर भी तुम निश्चिन्त हो, अपने दुःख के हेतु बार २ आवागमन में पड़ने के कारण स्वरूप इस मोह की बेड़ी को काटने की एक वार भी चेष्टा नहीं करते,केवल बैठे २ दूसरों के लिये रोते हो। छाती और मस्तक को हाथों से पीट २ कर हाय २ करते हो। रे मनुष्यो ! समय रहते मोह की बेड़ियों को काटने की चेष्टा करो, नहीं तो प्रकृति के नियमानुसार इस जेल से बाहिर होने पर भी छुटकारा नहीं मिलेगा। समय रहते भगवान की शरण में जाओ, रोना और चिन्ता करना छोड़ो। श्री भगवान ने अर्जुन से कहा है कि मेरी त्रिगु-

णात्मिका यह दैवी माया कठिनता से पार होने योग्य है, जो मेरी शरण लेकर अहर्निश मेरी उपासना और मेरा ध्यान करते हैं, वे इस दैवी माया के पार लग जाते हैं, मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।

६१—जप के समय जो ज्योति तुम्हारी आंखों के सामने चमक उठती है, उसमें अपने मन को केन्द्रीभूत करने की चेष्टा करो, तो देखोगे कि कैसी सुन्दर छटा बाहिर निकल कर तुम्हारे मन को आनन्द में मस्त कर देती है और उसके पश्चात् वह तुम को शोक से मुक्त कर देगी।

६२—श्री भगवान की अपेक्षा उसका नाम बड़ा है। श्रीभगवान भी नहीं जानते कि उनके नाम में कितनी शक्ति है। उनके नाम की शक्ति का प्रकाश भक्तों में होता है। भक्तवीर हनुमान 'जयराम श्री राम जय २ राम' कहते २ विशाल समुद्र को अनायास में पार करके लंका में जा उतरे, उसी समुद्र को पार करने के लिये श्री रामचन्द्र को वानरों की सहायता से सेतु बांधना पड़ा था। इसी लिये कहते हैं कि तुमको भक्तिके साथ नाम और मंत्र का दृढ़ आश्रय लेना चाहिये। नाम में से नामी स्वतः ही प्रकट होकर हृदय में प्रकाशमान होंगे।

६३—सब ही तो उसका नाम जपते हैं, फिर उनको आनंद का अनुभव क्यों नहीं होता ? आनन्द प्रदान करने वाली तो वह आल्हादिनी शक्ति ही है जो कुण्डलिनी शक्ति के नाम से मूलाधार आधार चक्र में सोती रहती है। उसको जगाना चाहिये

उसको जगाने के लिये ही तो श्री गुरु की शरण लेनी पड़ती है, नहीं तो मंत्र और नाम पुस्तकों में भी लिखे हैं। श्री गुरु की कृपा से जब यह आल्हादिनी शक्ति जाग उठती है, तब उस के नाम का जप करने मे आनन्द आता है, शरीर पुलकायमान हो उठता है और कंप आदि, भावों द्वार श्वासारोध, और आनन्द में हंसना रोना इत्यादि अपने आप होने लगते हैं।

६४—बैठकर भगवान का मधुर नाम लेते २ कान में जो मधुर ध्वनि सुन पड़े, वह ही नित्य ब्रजलीला विहारी परमात्मा स्वरूप श्री कृष्णचन्द्र की मधुर बांसुरी रूपी अनाहत ध्वनि का शब्द है। मनुष्य के इस देह में ही ब्रजधाम है, उस ब्रजधाम में ही श्रीकृष्ण की बंशी नित्य बजा करती है, परन्तु मोह विमूढ़ मनुष्य उसको सुन नहीं पाते, क्योंकि उन के मन श्रीकृष्ण मय नहीं हैं, विषयों में फंसे हुये हैं। जिनके प्राण श्री कृष्णमय हैं वे सब काम करते हुये भी जब इस ध्वनि को सुनते हैं,तब ही उनके मन और प्राण सब कर्मों से आकर्षित होकर अन्तर्मुखी होने लगते हैं। श्री कृष्ण की वंशी की मोहिनी ध्वनि में यमुना लह-राती है, गोपियां अपने २ हाथों के कार्यों को त्याग कर तन्मय हो जाती हैं और श्री कृष्ण से मिलने को व्याकुल हो उठती हैं साधक की अवस्था ठीक ऐसी ही है। जब साधक श्री गुरु की कृपा से दशविध अनाहत नाद के इस वेणुनाद को सुनने लगता है, तब उसके विषय मुखी मन की लहर ऊपर श्री भगवान की ओर बहने लगती है और मन की बहिर्मुखी वृत्ति चंचलता छोड़कर एक तान उसी ध्वनि में तन्मय होने लगती है। यह

ध्वनि कहां से आती है यह जानने के लिये भी प्राण व्याकुल हो उठते हैं। साधक उस ध्वनि में स्थिति लाभ करने के पश्चात् अपूर्व ज्योतियों के दर्शन करता है और उन ज्योतियों में नित्य व्रज विहारी सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र की उपलब्धि करके आत्म विस्मरण कर देता है अर्थात् कृष्णमय हो कर उनके साथ एक हो जाता है।

६५—अनित्य विषयों के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण है, उसका नाम आसक्ति है और श्री भगवान अथवा श्री गुरु के प्रति जो आकर्षण है उसको भक्ति कहते हैं। एक आकर्षण की गति नीचे की ओर और दूसरे आकर्षण की गति ऊपर की ओर होती है। आकर्षण यद्यपि दोनों हैं, फल उनका इतना विपरीत है कि एक के आकर्षण से मनुष्य दुःख पाता है और दूसरे के आकर्षण से मनुष्य के दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।

६६—जब कि ब्रह्म आत्मा के रूप में इस देह मन्दिर में बिराजमान हैं और वह ब्रह्म ही हम हैं, तब ध्यानादि करने की क्यों आवश्यकता होती है? हां! ध्यानादि करने की आवश्यकता है, विशेष ज्ञान लाभ करने के लिये और उसको निश्चय पूर्वक जानने के लिये। तिलों में तेल रहता है, काष्ट में अग्नि रहती है और दूध में मक्खन रहता है, यह जानने से ही क्या तिलों में से तेल, काष्ट से अग्नि, अथवा दूध से मक्खन निकाल लिया जा सकता है? जैसे तिलों के पेलने से तेल,

काष्ट पर काष्ट रगड़ने से अग्नि और मथनी द्वारा दूध को मथने से मक्खन बाहिर निकालना पड़ता है, उसी तरह ध्यानादि द्वारा "वह ब्रह्म ही मैं हूं अथवा मैं ही वह ब्रह्म हूँ" इस ज्ञान की निश्चय रूप से उपलब्धि होती है, अर्थात् उसको अपरोक्ष रूप से जाना जा सकता है।

जब तुम को आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान हो जायगा, तब स्वतः ही ध्यानादि करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ध्यान द्वारा ध्येय वस्तु के न मिलने पर्यन्त ध्यान की आवश्यकता रहती है। जैसे किसान धान को निकाल कर पैरे को त्याग देता है, उसी प्रकार ध्यानादि द्वारा अपनी आत्मा के ब्रह्म से अभिन्न होने का ज्ञान हो जाने पर साधक ध्यान जपादि का त्याग कर देता है। अपने आप में अपनी स्थिति हो जाती है और सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जाती है। इसलिये देखा जाता है कि महापुरुष लोग या तो अपने संस्कारों के वश ध्यानादि करते रहते हैं अथवा दूसरों के मङ्गलार्थ।

६७—केवल वेदान्त ग्रंथ पढ़ लेने से कोई वेदान्ती नहीं होता। वेदों का अन्त और जानने का अन्त ही वेदान्त है। जिसको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता और जिसको पा लेने पर और कुछ अन्वेषण करना नहीं रहता और जिसको जान लेने से एक विज्ञान द्वारा सब विज्ञानों की प्राप्ति हो जाती है, उसको जिसने जान लिया है, जिसने उसको पा लिया है वह ही वास्तविक वेदान्ती है।

९८—'मन स्थिर नहीं होता' यह ही चिन्ता करते २ मन को और भी चंचल न करके, दृढता के साथ जप और ध्यानादि करना चाहिये। पागल घोड़े पर सवार होने पर यदि घोड़ा अपनी इच्छापूर्वक इधर उधर चलना चाहता है, तो लगाम छोड़ कर घोड़े को उसकी इच्छा से न चलने देकर जैसे लगाम को जोर से खेंच कर पकड़ना पड़ता है, उसी तरह मन चंचल होने पर, उसके साथ २ चक्कर न लगाकर दृढ़तापूर्वक जप का अवलंवन रखना चाहिये, लगाम पकड़ कर कसकर खैंचने से जैसे घोड़ा अपने सवार के वश में आ जाता है और तव सवार की इच्छा के अनुकूल चलने लगता है, उसी प्रकार श्री गुरु के दिये हुये शक्ति संपुटित मंत्र का जप करते २ चंचल मन वश में आ जाता है।

९९—समाधि क्या है ? क्या यह जानते हो ? जैसे निर्वात स्थान में दीप शिखा न मुड़ती है, न हिलती है परन्तु स्थिर रहती है, उसी प्रकार जब देखो कि मन ध्येय विषय में स्थिर हो गया है, उसमें उसने तन्मयता प्राप्त करली है, और दूसरा ध्यान अथवा विचार नहीं आता, तब जानो कि तुम को योग अथवा समाधि की सिद्धि हो गई। समाधि ही योगियों के लिये सब से अच्छा विश्राम है! साधक के समाधिस्थ होने पर उसका शरीर जड़वत् स्थिर और स्पन्द रहित हो जाता है।

१००—ज्ञान-योगियों के यम और नियमादि क्या हैं ? क्या यह जानते हो ? देहेन्द्रियादि में वैराग्य ही ज्ञानियों का

यम है। उनकी परतत्व में अनुरक्ति ही उनका नियम है। सब वस्तुओं से उदासीनता ही उनका उत्तम आसन है। यह जगत् मिथ्या है, ऐसा बोध होना ही उनका प्राण संयम है। प्राण संयम द्वारा चित्त का अन्तर्मुखी रहना उनका प्रत्याहार है, चित्त का निश्चली भाव धारणा, और मैं चेतन स्वरूप हूं इस भाव का सदा चिन्तन उनका ध्यान है। इसी प्रकार विचार करते २ जब उनकी वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् उनका अहमत्व भी डूब जाता है अर्थात् लीन हो जाता है, तब ही उनकी समाधि है। अष्टाङ्ग योग के अभ्यासी योगियों के जो यम नियमादि हैं,वे हमारी लिखित 'योग वाणी' में बताये जा चुके हैं, इसलिये यहाँ उनकी पुनरुक्ति नहीं की जाती।

❀ ॐ शान्तिः ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्तिः !!! ❀

॥ ॐ ॥

महायोग विज्ञान

अन्तर् जगत के अलौकिक ऐश्वर्य तथा दिव्य ब्रह्म ज्ञान को दर्शाने वाला हिन्दी भाषा में यह अद्वितीय पहला ही ग्रंथ है।

प्राचीन काल में अध्यात्म ज्ञान के प्रकाशक हमारे पूर्वज ऋषि मुनि योगी जन जिस शक्ति के प्रभाव से अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न होकर दिव्य आत्मज्ञान का अनुभव करके परमसुख शान्ति का सौभाग्य प्राप्त करते थे उस परम गुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का रहस्य, तथा वास्तविक भजन, पूजन, तप, योग, ज्ञान, ध्यान की शीघ्र सिद्धि का पथ प्रदर्शक और संसार में ही रह कर सुखपूर्वक सहज में ही सरलता से, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त कराने वाला यह अपूर्व ग्रन्थ "महायोग विज्ञान" पढ़ कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कीजिये।

महायोग के प्रवर्तक योगी गुरु श्रीमन्नारायण तीर्थदेव योगाचार्य की परम कृपासे इस ग्रंथ के लेखक ऋषिकेष स्वर्गाश्रम उत्तराखण्ड हिमालय के सुप्रसिद्ध पुरुष श्री १०८ योगानन्द ब्रह्मचारी जी महाराज हैं, जिस की पृष्ठ संख्या ४०० है जो सुन्दर १२, १६, २० पाइन्ट के नये मोटे टाइप में २८ पाउंड के क्राउन ग्लेज पेपर पर छापा गया है, जिसमें १३ प्रकाश हैं और योग साधन, कुण्डलिनी शक्ति, मन, प्राण, नाद, विन्दु, कला और ज्योति तथा शक्तिपात द्वारा शक्ति सञ्चार आदि महा गुप्त और गूढ़ विषयों पर वेद, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण तथा अप्रकाश्य तंत्र ग्रंथों के प्रमाणसहित वैज्ञानिक रीति से सहज बोधगम्य सरल हिन्दी भाषा में लिखा गया है, जिसमें अतीव आश्चर्य जनक प्रत्यक्ष अनुभूत प्रायः १५० से अधिक आध्यात्मिक विषयों का समावेश है और जन साधारण की सुविधा के लिये इसका मूल्य केवल १॥) रुपया रखा गया है।

प्राप्ति स्थानः—विज्ञान भवन-भगवान पुरा-ऋषीकेश (देहरादून)

❀ योगवाणी अर्थात् सिद्धयोगोपदेश ❀

यह ग्रन्थ श्री गोबरधन मठस्थ परमहंस परि[illegible] चा[illegible] श्री श्री शङ्कर पुरुषोत्तम तीर्थ स्वामीजी महाराज कृ[illegible] [illegible] योगवाणी का सरल हिन्दी अनुवाद है। इस ग्रंथ में सि[illegible] अथवा महायोग के प्रवर्तक परम करुणालय योगी गु[illegible] श्रीमन्नारायण तीर्थदेव योगाचार्य के प्रचलित सिद्ध योग का विज्ञान गुरु शिष्य संवाद रूप से सिद्ध योग साधन करने वाले साधकों के लिये आवश्यक और ज्ञातव्य विषयों के कथोपकथन द्वारा शंका समाधान रूप से सरल भाषा में लिखा गया है, जो सामान्य बुद्धि वाले साधकों के लिये भी बहुत ही लाभदायक और जानने योग्य है। साधारणतः सिद्ध योग के विषय में शिष्य वर्ग के प्रश्नों को अच्छी तरह समझाया गया है। १) प्रति मिलने का पता:—सिद्ध योगाश्रम छोटी गैबी,काशी।

❀ शक्तिपात अथवा कुण्डलिनी महायोग ❀

महायोग प्रवर्तक योगी गुरु ब्रह्मलीन श्रीमन्नारायण तीर्थ देव योगाचार्यजी जो वर्तमान युग में शक्ति संपात विज्ञान के संचालक, प्रकाशक और दीक्षा गुरु थे, की परम कृपा से उनके प्रशिष्य लेखक पं० मुनिलाल स्वामी बी० ए० एल-एल बी०, अब स्वामी विष्णुतीर्थजी ने इस छोटे से ग्रंथ में श्री महेश्वर से परंपरागत शक्ति संपात की विधि, शक्ति पात के लक्षण उससे होने वाला तात्कालिक प्रत्यक्ष फल प्रदर्शन और शैवी शक्ति से योग साधन का विकास और परंपरागत विज्ञान की पहिचान तथा रुद्रशक्ति समाविष्ट साधक की साधना विषयक अतीव आश्चर्य जनक उपरोक्त महायोग विज्ञान ग्रन्थ का संक्षिप्त सार, दार्शनिक सिद्धान्त रूप से सूत्रों में दर्शाया है। मूल्य ।≈) मिलने का पता:—(१) विज्ञान भवन, ऋषिकेश (देहरादून), (२) पं० रामनिवास साहित्य रत्न, रामकुटी अम्बाह–ग्वालियर